या किसी शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो भाव की विकृति निश्चित है। ऐसे रस-सिद्ध एवं वाग्विदग्ध कवि की महत्तम कृति का भाषान्तर करने की इच्छा का मैंने जो साहस किया वह केवल विद्यार्थी मात्र होने की हैसियत से और कुछ नहीं। अनुवाद में कहीं-कहीं भाषा के विषय में मैंने स्वच्छन्दता से काम लिया है। 'प्रात' शब्द का प्रयोग मैंने स्त्रीलिङ्ग में ही किया है, किन्तु 'प्रभात' का नहीं। साथ ही निज कविताओं में स्त्री-सुलभ मार्दव का भान हुआ, उसे स्त्री की प्रार्थना के रूप में कर दिया है, मानो कोई साध्वी अपने पति से प्रार्थना कर रही है, क्योंकि बँगला के क्रिया-पदों में स्त्रीलिङ्ग के लिए कोई भेद नहीं है।

मेरे इस अनुवाद में बँगला और अंग्रेजी दोनों गीताञ्जलियों की समस्त रचनाएँ आ गई हैं। पूर्व के 'एक सौ सत्तावन' गीत बँगला गीताञ्जलि के, शेष 'दो सौ नव' तक अंग्रेजी के अवशिष्ट गीत हैं। अन्तिम गीत, जो मुक्त छन्द में है, इनके जीवन की अन्तिम रचना है; कुछ मित्रों के कहने से उसे भी रख देना पड़ा। एक गीत,

दो शब्द

मैंने पं० लालधर त्रिपाठी "प्रवासी" जी का किया हुआ गीताञ्जलि का अनुवाद देखा। मुझको अनुवाद सरस और प्राञ्जल लगा। सुन्दर निर्वाह किया गया है। विश्वास है, कवि का आदर होगा, लोगों को रचनाएँ रुचिकर होंगी।

सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"
१७-१२-४५

समर्पण

जिसको देख लताएँ झूमीं
विटपों के मस्तक डोले,
जिसे देख अन्तर के तरु पर
प्राणों के पंछी बोले!

मलय पवन ने मादकता ली
जिसकी वर्तुल अलकों से,
द्राभा ने अरुणिमा सजाई
जिसकी छवि की छलकों से!

तन में शक्ति, हृदय में साहस,
धन में जो कविता-क्षण है,
कवि की वाणी प्रेमसहित
उस जीवन-धन को अर्पण है!

"प्रवासी"

अनुक्रमणिका

प्रथम पंक्ति की सूची

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति	पृष्ठसंख्या

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति	पृष्ठसंख्या
३२	भय को मेरे दूर करो हे, देखो मेरी ओर !	३५
३३	घिर रहा यह हृदय फिर से, ...	३६
३४	कब से चले आ रहे मुझ से ...	३७
३५	आओ, आओ मेघ, ...	३८
३६	छन्द-रचना में नहीं क्या	३९
३७	छूटा रे वह स्वप्न निशा का, ...	४०
३८	आनन्द-गाना गा रे	४१
३९	यहाँ जो गीत गाने को चली ...	४२
४०	खो जाती जो वस्तु, उसे ...	४४
४१	अहङ्कार का मलिन वसन व्यसन भरा	४५
४२	आज हमारे अङ्ग-अङ्ग में पुलकावलि छाई	४६
४३	तुमको पिन्हाने के लिये	४७
४४	जगती के आनन्द-यज्ञ में, ...	४८
४५	करके प्रकाश को प्रकाशवान् चौगुना	४९
४६	आसन-तलकी धूलि उसी में मैं मिल जाऊँगी	५०
४७	अरूप रतन की आशा में ...	५१
४८	गगन-तल में खिला सहसा ...	५२
४९	हृदय बिछाकर बैठे वे	५४
५०	शान्त प्राण के देव	५७
५१	किस प्रकाश से आशा-दीप ...	५८

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति		पृष्ठसंख्या

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति	पृष्ठसंख्या

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति	पृष्ठसंख्या

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति		पृष्ठसंख्या

कविता संख्या	प्रथम पंक्ति		पृष्ठसंख्या

परिशिष्ट

गीताञ्जलि

अपनी चरण-धूलि के तल में
मेरे मस्तक को नत कर दो!
सारा अहङ्कार है, मेरा
अश्रु-धार में मज्जित कर दो!

निज को गौरव-पथ पर लाऊँ,
अपना ही अपमान बुलाऊँ,
अपने में ही सीमित रहकर
मत पल-पल मरने का वर दो!

सारा अहङ्कार है, मेरा
अश्रु-धार में मज्जित कर दो!

अपने लिए प्रचार करूँ मैं
नहीं स्वार्थ से प्रेरित होकर,
अपनी इच्छा करो पूर्ण हे,
मेरे जीवन में शुचि, सुन्दर।

दो निज चरम शान्ति लोकोत्तर,
परम कान्ति प्राणों में दो भर,
मेरे हृदय-पद्म-दल में बस
मुझ को छाया उज्ज्वलतर दो!

सारा अहंकार हे, मेरा
अश्रु-धार में मज्जित कर दो।

२

अमित वासना प्राण से चाहता पर,
प्रवञ्चित किया, किन्तु मुझको बचाया।
कृपा यह कठिन नाथ, तेरी महा है,
कि जिससे भरा आज जीवन दिखाया।

नहीं चाहता था, दिया दान मुझको,
गगन, ज्योति, मन, देह औ, प्राण मुझको,
उसी दान की योग्यता प्राप्त करने,
कि प्रतिदिन लिए जा रहे प्राण, मुझको।

पड़ा दुःख था नाथ, अतिकामना का
बचाया तुम्हीं ने कृपावान, मुझको।

कभी भूलता था, कभी चल रहा था,
तुम्हारे चरण चिह्न के मैं सहारे;
निठुर हे, निठुरता दिखाई मनोहर,
कि थे हट गए सामने से हमारे।

इसी को दया नाथ, तेरी समझता
मिलोगे मुझे, पर घुमाते रहे हो,
करोगे प्रभो, पूर्ण जीवन हमारा
मिलन की मुझे योग्यता दे रहे हो।

कि सङ्कटमयी अर्द्ध-इच्छा हमारी।
उसी से मुझे तुम बचा के रहे हो,

———

३

जिनको न जानता था तुमने जता दिया है,
जो घर न था हमारा उसमें बसा दिया है,
जो दूर था उसे भी तुमने निकट किया है,
कल जो रहा पराया वह आज बन्धु-सा है,

जब छोड़ते पुराना आवास हम, हृदय-धन,
तब सोचकर भविष्यत् होता विषण्ण रे, मन;
जो है नवीन उसमें प्राचीन ही छिपा है,
तुम हो सदा वहाँ भी, यह सत्य भूलता है।

जीवन-मरण समय में, हे, तुम निखिल भुवन में
लेकर जहाँ चलोगे, अखिलेश, जिस सदन में,
चिर जन्म-जन्म के हे, परिचित उदार मोहन,
सबका पुनीत परिचय दोगे तुम्हीं चिरन्तन।

हे नाथ, जानने पर तुमको, न कुछ अपरिचित,
फिर दुःख कुछ नहीं रे, भय है न प्राण के हित,
बहु रूप में तुम्हीं हो, प्रिय, एक प्राण हो कर,
भूलूँ न यह कभी भी हे, नाथ, दो यही वर।

४

दुख से मुझे बचालो इसके,
लिए न करता, नाथ, विनय,
नहीं डरूँ मैं दुख से किञ्चित,
यही शक्ति दो, करुणामय !

दुःख-ताप में व्यथित हृदय हो,
नहीं सान्त्वना प्राप्त सदय हो,
तो भी मन-बाधाओं पर मैं
पाता जाऊँ सदा विजय।

मिले न यदि सहायता मुझको,
निज बल की हो आशा मुझको,
जग से पाऊँ यदि प्रवञ्चना
हो तथापि साहस अक्षय।

पौरुष दो, हे देव, स्वयं
मत आकर मेरा त्राण करो,
बिना तुम्हारे शान्ति-दान के
स्वयं सँभालूँ सब निर्भय।

सुख के दिन मैं विनत रहूँगा,
मुख तेरा पहचान सकूँगा,
दुख- रजनी में विश्व छोड़ दे
पर, न करूँ तुम पर संशय !

५

अन्तर मेरा विकसित कर दे,
हे अन्तर्यामी!
निर्मल कर दे, उज्ज्वल कर दे,
सुन्दर कर स्वामी!
जाग्रत कर दे, उद्यत कर दे,
निर्भय कर त्राता!
मङ्गल, निरलस, निःसंशय कर,
हे जीवन - दाता!
सब के साथ मिला दे मुझको,
बन्धन काट, हरे!
अपने भाव सभी कर्मों में,
भर, करुणाकर हे!
चरण-कमल में मन-मधुकर को,
दे विराम, स्वामी!
आनन्दित कर, आनन्दित कर,
दास कृपाकामी!
अन्तर मेरा विकसित कर दे,
हे अन्तर्यामी!

६

प्रेम, प्राण, गान, गन्ध, ज्योति, पुलक में अमन्द
बरस, पड़ी विमल सुधा-धार तुम्हारी,
प्लावित कर स्वर्ग-भूमि-लोक चाह से;
दिशि-दिशि के छन्द-बन्ध टूट चले, सत्यसन्ध,
मूर्तिमान हर्ष जगा प्राण - विहारी,
देश, काल भर उठे सुधा प्रवाह से।

मङ्गल मधु से अथोर चेतना हुई विभोर,
खिल उठी कमल-समान हर्ष में पली,
त्याग चरण-शरण में मरन्द-धार को;
नीरव जब था प्रकाश अरुण उषा का विलास—
अन्तर को कर गया प्रभात की कली,
दूर किया अलस नयन के विकार को॥

७

नित नूतन बनकर प्राणों में तुम आओ !
हे, गन्ध, वर्ण, गानों में पुलक समाओ !
आओ, अङ्गों के पुलक-परस में आओ,
जब हो पीयूषी-हर्ष हृदय में छाओ,
ध्यानावस्थित नेत्रों को मुग्ध बनाओ
नव-नव रूपों में, देव, प्राण में आओ !
हे उज्ज्वलतम, निर्मल, आओ श्रीकान्त,
हे सुन्दर, आओ स्नेहवान अतिशान्त,
नाना विधान में जग के ज्योति जगाओ !
आओ, सुख-दुख में हृदय-कमल में आओ,
जीवन के शाश्वत कर्मों में बस जाओ,
जब कर्म-पाश खुल जायँ तुरत अपनाओ,
नित नूतन बनकर प्राणों में तुम आओ !!

८

खेल धान के खेत बीच
छाया-प्रकाश से आँख मिचौनी,
नीले नभ में कौन बहाता
धवल मेघ की नाव सलोनी।

मधु-रस पी मतवाला भौंरा
उड़ता फिरता क्यों प्रकाश में,
चकवा - चकवी नदी किनारे
आ बैठे किस मधुर आस में?

आज नहीं मैं घर जाऊँगा,
जाऊँगा मैं नहीं, सखे, घर,
आज गगन को तोड़ूँगा मैं
लाऊँगा धन-राशि लूटकर!

आज पवन में हास भर उठा,
जैसे फेन ज्वार के जल में;
आज न और करूँगा कुछ भी
वंशी टेरूँगा विह्वल मैं!

———

९

सखे, आज आनन्द-सिन्धु से
चली बाढ़ की धार;
खींचो डांड़ बैठ हिल-मिल कर
नाव लगा दें पार!

बोझा जितना सब धर लेंगे,
दुख की तरी पार कर लेंगे,
आज तरङ्गों पर विचरेंगे,
तज प्राणों का प्यार।

कौन पुकार रहा पीछे से
करता कौन मना,
डर की बात कौन करता
सब जाना और सुना।

कौन शाप या किस ग्रह से डर
सुख से बैठूँगा, तट ऊपर
गाता चलूँ पाल की रस्सी धर
प्रियतम के द्वार!

सखे आज आनन्द-सिन्धु से
चली बाढ़ की धार।

१०

दुख के अश्रु-धार से साजूँगा सोने का थाल,
मा, गूथूँगा आज गले की तेरी मुक्ता-माल!
चन्द्र-सूर्य्य पग की माला बन,
जड़े हुए हैं किन्तु अशोभन,
किन्तु गले की शोभा होगी दुख का भूषण डाल!
हैं धन्य-धान्य तुम्हारे ही धन किन्तु प्रयोजन कौन
देना हो तो देना, अथवा मा, रह जाओ मौन!
दुख का धन रहता मेरे घर,
शुद्ध रत्न पहचानो सत्वर,
मा, देकर अपना प्रसाद लो, अहङ्कार तत्काल।

११

काश - गुच्छ को बाँध,
गूँथकर माला शेफाली की,
डाली आज सजाकर लाया,
धानों के बाली की।

आओ, आओ शारद-लक्ष्मी,
शुभ्र मेघ के रथ से,
निर्मल नीले पथ से, ज्योतित,
श्याम, शुभ्र पर्वत से;

शिशिर - विनर्मित - शतदल - शोभित
मुकुट पहन सुख-जाली की।

गङ्गा-तट पर निभृत कुञ्ज में
बिछे मालती फूल,
हंस घूमता वहीं बिछाने पंख
चरण के मूल।

झङ्कृत करके स्वर्ग-बीन के तार छेड़ना तान,
क्षणिक अश्रु में पिघल पड़ेगा हर्ष-भरा मधु गान।

अलकों के नीचे रह रह कर
झलक पड़ेंगे मणि-भूषण,
करुण करों से पल भर को तुम
शान्त बनाना चंचल मन।

स्वर्ण बनेंगे भाव और
तम ज्योति अंशुमाली की।

१२

मन्द-मधुर पवन लगे शुभ्र पाल में,
बह रही तरणि अपूर्व चाल ढाल में।
जाने, अनजाने किस सिन्धु से चली,
कौन राशि दूर देश को इसे मिली,
कह रहा हृदय कि फेंक दूँ उतार कर,
सारा धन यहीं, बहूँ सिन्धु-धार पर।
पीछे झर झर ध्वनि जल-राशि झड़ रही,
छिन्न मेघ से प्रभात किरण पड़ रही,
किसके यह हास-रुदन का अपार धन,
नाविक, तुम कौन, द्विधा-ग्रस्त त्रस्त मन,
किस स्वर में बाँध यन्त्र आज सँभालूँ,
कौन मन्त्र भरी आज रागिनी गालूँ।

१३

मेरा हृदय हरण धन आया
क्या देखा मैंने जब पथ पर
अपना हृदय बिछाया !

पारिजात की पुष्प-राशि पर,
श्यामल हिमजल-सिक्त घास पर,
कोमल मञ्जुल अरुण चरण धर,
नयन विलोभन आया।

धूप-छाँह का झलमल अञ्चल,
खस-खस पड़ता वन-भूतल पर,
फूल देख उसका मुख-मण्डल
मन मन क्या कहते चिन्तनपर,

अपनाऊँ मैं तुम्हें, रूप-धन,
दूर करो मुख का अवगुण्ठन,
मेघावरण युगल हाथों से
फेंक मधुर मुस्काया।

वन-देवी के द्वार-द्वार पर
सुनता हूँ शंख-ध्वनि मनहर,
व्योम-बीन के तार-तार पर
स्वागत-गान बजे लोकोत्तर !

कहाँ स्वर्ण-नूपुर की रुनझुन ?
पाया अपने अन्तर में सुन,
भाव-कर्म में शिला गलाकर
सुधा प्रवाह बहाया।

१४

जननी, तव अरुण करुण चरण
अरुण किरण मध्य खोज रहा बार बार!
वाणी तव मरण-हरण,
भर उठी अशब्द प्रवण,
नीरव नभ में अपार।
तुमको करता प्रणाम
लोक लोक में ललाम,
निखिल कर्म में पुकार।
तन, मन, धन सब अर्पण
धूप - धूम में पावन
करता है कवि-कुमार।
जननी, तव अरुण करुण चरण
अरुण किरण-मध्य खोज रहा बार बार!

१५

भर रहीं आनन्द की तानें दिगन्त
उदार स्वर में,
गान वह गम्भीर ध्वनि में कब बजेगा
विकल उर में।
पवन, नभ, जल, ज्योति का कब
जग पड़ेगा प्यार मन में,
कब सभी सज-धज बसेंगे
शान्ति से अन्तर-सदन में।
मूँदने पर नयन, कब ये
प्राण निपट निहाल होंगे,
चल पड़ूँगा जिस डगर
सन्तुष्ट सब तत्काल होंगे।
साथ हो, यह बात कब होगी
सहज जीवन-प्रहर में,
निखिल कर्मों में तुम्हारा नाम कब
होगा मुखर, हे!

१६

उमड़-घुमड़ घन पर घन छाते,
अन्धकार का पार नहीं,
मुझे अकेली बिठा द्वार पर,
आते क्यों इस पार नहीं।

काम-काज के दिन कामों में,
भाँति-भाँति के रहती हूँ,
भाँति भाँति के लोगों में रह,
सब कुछ सुख से सहती हूँ;

आज तुम्हारी आशा में,
बैठी हूँ प्राणाधार यहीं!
मुझे अकेली बिठा द्वार पर,
आते क्यों प्रिय, पार नहीं।

दर्शन दोगे नहीं करोगे यदि
दासी की अवहेला,
कैसे बोलो, देव, कटेगी
मेरी यह बादल बेला।

दूर दूर तक आँख बिछाकर,
देख रही हूँ केवल, पथ पर,
प्राण हमारे रोते फिरते झंझा के
मँझधार कहीं!
मुझे अकेली बिठा द्वार पर
आते क्यों प्रिय, पार नहीं!

१७

कहाँ प्रकाश, प्रकाश न कण भर
विरहानल से लो प्रकाश कर!

दीप, अरी, यह विगत-शिखा है,
क्या मेरे यह भाग्य लिखा है!

इससे तो अच्छा है कर में
ले लूँ हाथ मृत्यु का सत्वर,

विरहानल से लो प्रकाश कर!

कहे वेदना,—"अरे प्राण-घन,
तेरे लिए जगे जग-वन्दन!

रजनी के इस तरुण तिमिर में,
तुझे बुलाया प्रेम-शिविर में,

दुख देकर रक्खा है तेरा
मान आज तक पावन!

तेरे लिए जगे जग-वन्दन!"

गगनाङ्गण में मेघ गए भर,
बादल से जल गिरता झर झर,

घोर निशा में सहसा सोए
जाग उठे क्यों प्राण विकल ये,

क्यों इस भाँति समाकुल होकर
करते आत्म-समर्पण किस पर?

बादल से जल गिरता झर झर!

विद्युत क्षण भर पलक मारती,
पुनः निविड़तर तिमिर ढालती,
आज न जाने किस दूरी पर
होता गान मन्द-ध्वनि मनहर,
उसी ओर ये प्राण खींचते,
कैसी उनकी हूक सालती!
पुनः निविड़तर तिमिर ढालती!

कहां प्रकाश, प्रकाश न कण भर,
विरहानल से लो प्रकाश कर!
मेघ पुकारे, पवन झँकोरे,
समय गए जा सकें न द्वारे
काली निकषा-सी यह रजनी
चली भयानक दृष्टि रोधकर!
प्रेम-द्वीप में लो प्रकाश भर!

१८

श्रावण - घन के गहन - तिमिर में
धीरे - धीरे चरण बढ़ाकर,
नीरव निशा-समान कौन है,
आया सब की दृष्टि बचाकर।

आज प्रभात मूँदता आँखें,
पवन चला फड़का कर पाँखें,
गया कौन घन के वस्त्रों से,
नील गगन की लाज छिपा कर।

कानन - कलरव हीन हो गए,
द्वार बन्द कर सभी सो गए,
पथिक-हीन एकाकी पथ पर
चले कौन तुम पथिक हो नए!

हे मेरे अभिन्न, हे प्रियतम,
पड़ा हुआ उन्मुक्त द्वार मम,
स्वप्न-समान सामने से जाना—
मत मेरी अवहेला कर!

१६

यह असाढ़ की घनी साँझ
दिन गया निकल,
रह-रह गिरती जल-धारा
रिमझिम अविरल!

बैठ अकेले घर के कोने
क्या रचता हूँ स्वप्न सलोने
सजल वायु जूही-वनमें
क्या कहती चल!

रह-रह गिरती जल-धारा
रि म झि म अ वि र ल!

आज तरङ्गें मन में उठतीं,
मिलता कहीं न कूल,
सौरभ से भर प्राण रो उठे,
भींगे वन के फूल!

रात अँधेरी पहर सलोने
अरे, आज किस स्वर में भीने,
किस उलझन में खोया मन
हो उठा विकल!

रह रह गिरती जल-धारा
रि म झि म अ वि र ल!

२०

प्राणाधार, करूँगी तुमपर आज प्रेम-अभिसार !
रोता व्योम हताश,
नहीं है इन आँखों में नींद,
वर्षा की यह रात सलोनी
सखे, रही है भींग;
द्वार खोल कर देख रही हूँ, प्रियतम बारम्बार !
प्राणाधार, करूँगी तुमपर आज प्रेम-अभिसार !
बाहर कुछ न देखती, साथी,
पथ तेरा अनजान,
दूर नदी के पार, सोचती हूँ
हे पावन प्राण,—
अन्धकारमय कहीं विजन में रहते प्रिय, उस पार !
प्राणाधार, करूँगी तुम पर आज प्रेम-अभिसार !

२१

जानता हूँ भली-भाँति किस आदि काल ही से
बहते रहे हो मेरे जीवन के सोते - से,

सहसा, हे प्रिय, कितने ही गृह, पथ बीच
आए इन प्राणों में अपार हर्ष बोते-से,

कितनी ही बार तुम मेघ-मण्डली में छिप
मधुर हँसे थे उन्हीं बीच खड़े होते-से,

बाल किरणों में मञ्जु चरण बढ़ाते हुए
छू दिया ललाट, शुभ शान्ति में डुबाते - से!

सञ्चित हुआ है भली भाँति इन नयनों में,—
कितने भुवन, काल करते समर्थन,

कितनी असंख्य नवज्योति में, हमारे प्रिय,—
उस रूप-हीन का स्वरूपगत दर्शन,

कितने युगों से, कोई जानता नहीं है जिसे
भर जाता प्राणों में अपार स्नेह-कर्षण,

अगणित सुख-दुःख, अगणित प्रेम-गान—
बीच नित होता है अमृत-रस-वर्षण!

२२

हे कलावान, तुम किस प्रकार करते हो मादक गान,
मैं सुनता रहता हो अवाक्, अनजान !
स्वर का प्रकाश ढँक लेता अखिल भुवन को,
स्वर की लहरी छू चली समस्त गगन को,
पाषाण तोड़ व्याकुल धारा निकली सुरसरी-समान !
सोचता, कि मैं ऐसे ही स्वर में गाऊँ,
पर कहाँ कण्ठ-स्वर तुम-जैसा मैं पाऊँ !
कहना जो चाहूँ बात न मुँह से निकले,
क्रन्दन करने को प्राण पराजित मचलें,
तुम यह अनन्त स्वर-जाल बना,
करते क्यों बन्दी प्राण !

२३

इस प्रकार छिपकर जाने से
चल सकता है काम नहीं,
आ मेरे अन्तर में बैठो,
हो न खबर, घनश्याम, कहीं!

आँख मिचौनी देश-देश में,—
होती तेरी विविध वेश में,

मन-मन्दिर के कोने पकड़े
जा सकते, अभिराम, सही!
इस प्रकार छिपकर जाने से,
चल सकता है काम नहीं!

मेरा है कठोर अन्तस्तल,
चरण तुम्हारा अतिशय कोमल,
आकर तेरे निकट, भला, क्या
गल सकता उर-धाम नहीं!

मेरी नहीं साधना पूरी,
यदि मिल जाय कृपा, प्रभु, तेरी
तो क्षण भर में फूल, फूल से
फल मिल सकता, राम, नहीं!

इस प्रकार छिपकर जाने से
चल सकता है काम नहीं!

२४

इस जीवन में मिल न सको यदि
तुम मुझको, हे करुणाकर,
तो वियोग-वेदना जागते-सोते
मन में रहे अमर!

इस विशाल संसार-हाट में
जीवन के दिन बीत चलें,
दोनों हाथों में कितनी
सम्पत्ति-राशियाँ क्यों न मिलें,

किन्तु, न मिला मुझे कुछ भी,
यह बात न भूल सकूँ, प्रभुवर!
यह वियोग–वेदना जागते-सोते
मन में रहे अमर!

यदि आलस में पड़, हे प्रभुवर,
थककर मैं बैठूँ पथ पर,
वहीं धूल में यत्नपूर्वक
फैलाऊँ अपना विस्तर,

तो, पथ अभी शेष सारा है,
बात न यह भूले क्षण भर!
यह अपार वेदना जागते-सोते
मन में रहे अमर!

कितने ही आयोजन से हो
सजा हमारा गृह सुन्दर,
कितना हास-विनोद भर उठे,
गूँज उठे वंशी का स्वर,

किन्तु न भूलूँ कभी कि, तुम
आ सके न अभी हमारे घर,
यह अपार वेदना जागते-सोते
मन में रहे अमर!

२५

लोक-लोक में देख रहा हूँ
विरह तुम्हारा नित्य नवीन,
विविध रूप धर कानन, भूधर,
गगन, सिन्धु में शोभासीन !

सारी रात देखता रहता
नि र्नि मे ष ता रा-ग ण में,
तरु पल्लव पर गाता है जो
रिमझिम स्वर भर सावन में !

घर - घर के सुख - दुख में,
प्रेम-वासना में होकर गम्भीर
गुरुतर होता ही जाता, है,
और बढ़ाता उर की पीर !

सारे जीवन को उदास कर
गाने के स्वर में गलकर
विरह तुम्हा छलक रहा है
मेरे अन्तर के भीतर !'

२६

अब चलें घाट से, सखी,
कलश भर लावें!
अब नहीं समय है, छाया झुकी धरणि पर,
भर रहा सान्ध्य-नभ को सरिता का कल-स्वर,
रे, वही पुकार बुलाती पथ पर
चलें न समय गँवावें!
अब चलें घाट से, सखी,
कलश भर लावें!
अब नहीं लौटने का कुछ ठीक दिखाता,
अज्ञात वही तरणी पर बीन बजाता,
क्या जाने, किस अनजाने से
अब ईश्वर आज मिलावें!
अब चलें घाट से, सखी,
कलश भर लावें!!

२७

मेघ की जल-धारा झर-झर
गिर रही तोड़ गगन भू पर
समाकुल, निराधार, निर्भर।
शाल-वनमें कुछ रुक-रुक कर
चली आँधी हर-हर ध्वनि भर,
गिर रहा जल कुछ इधर-उधर
वहीं उन खेतों के ऊपर,
आज मेघों की जटा बिखेर
कौन नाचता मत्त होकर!
वृष्टि से पर-वश होकर मन
लोटता आँधी में उन्मन,
हृदय-व्यापी यह भाव-तरङ्ग
चूमती किसके आज चरण!
हृदय में यह कैसी कल रोल,
द्वार को चली अर्गला खोल!
आज रे, भादों की बरसात
हृदय में उठता पागल बोल!
इस तरह कौन हुआ उन्मत्त
आज मेरे भीतर, बाहर!

२८

तेरी सजग प्रतीक्षा भी है,
मन को मधुर-मधुर लगती है।
बैठ धूलि में आज द्वार पर
कृपा-भिखारी अन्तर कातर—
पाता नहीं कृपा को फिर भी
आशा अन्तर को ठगती है।
सुख तजकर सब कर्म छोड़कर
गए सभी जग-बन्ध तोड़कर,
एकाकी हूँ, किन्तु, तुम्हारी
कृपा-दृष्टि सुध-बुध रहती है।
सुधा-भरित श्यामल धरणीतल,
प्रेम-सिक्त नित व्याकुल, चञ्चल,
किन्तु बिरह की घड़ी दुखमयी
अन्तर को सुख में रँगती है
मन को मधुर-मधुर लगती है।

२६

धन, जन में हैं लीन,

किन्तु, हम तुमको ही चाहें।

अन्तर में रहते हो निशि-दिन हे अन्तर्यामी

मुझसे अधिक हृदय-रहस्य को जान रहे, स्वामी,

सुख-दुख में मैं भटक रहा भरता ठण्डी आहें!

किन्तु, हम तुमको ही चाहें!

अहङ्कार को छोड़ न पाता, हे करुणा—आगार,

भटक रहा हूँ जग में इसका ले सिर पर गुरु-भार

छोड़ सकूँ तो बचूँ, कृपानिधि, धर तेरी बाहें!

और, हम तुमको ही चाहें!

जो कुछ है इस विकल विश्व में मेरा कहलाता,

हाथ बढ़ाकर कब ले लोगे, हे जीवन-दाता!

सब कुछ तजकर सब पा लूँगा, तुम में धाता हे!

हृदय से हम, तुझको चाहें!

३०

यह तो तेरा, प्रेम सलोने हे मेरे चितचोर !
पात पात पर स्वर्ण-प्रभा जो
नाच रही ऊषा के वन में,
सदल सजल हैं मेघ तैरते,
ये जो नीलम नील गगन में,
मन्द पवन का परस हृदय को करता आत्म-विभोर !
यह तो तेरा प्रेम सलोने हे मेरे चित-चोर !
यह प्रभात की प्रभा कि जिसमें
आंखें बरबश हैं खो जातीं,
यही प्रेम की वाणी तेरी
प्राणों में चुपचाप समाती,
आज तुम्हारा यह अवनत मुख,
आँखें देख रही हैं, सम्मुख,
आज चरण में अन्तर मेरा बँधा प्रेम की डोर।
यह तो तेरा प्रेम सलोने, हे मेरे चितचोर !

३१

मौन खड़ा हूँ, देव, आज गाने को तेरा गान।
मुझ को भी इस विश्व सभा में, प्रभुवर, देना स्थान।

मेरा कोई काम नहीं है
तेरे इस त्रिभुवन में,
बिना प्रयोजन गान गूँजते
निष्फल, मेरे, मन में;

निविड़ निशा के मन्दिर में
जब हो तेरा आराधन,
देव, बुला लेना तब मुझ को
सुनने–, मेरा गायन;

स्वर्ण - प्रात मे स्वर्ण - बीन के झंकृत हों जब तार,
तब मैं रहूँ न दूर, खोल देना मन्दिर का द्वार!

३२

भय को मेरे दूर करो हे, देखो मेरी ओर !

नहीं मुझे पहचान रहे हो,

आनाकानी ठान रहे हो,

मेरे मन को पढ़कर हँस दो एक बार चित-चोर !

घुल-मिल मुझसे बातें कर लो,

तन को परस ताप सब हर लो,

हाथ दाहिना, प्राण, बढ़ाकर कसो प्रेम की डोर !

मेरा सब जाना अनजाना,

खोना है मेरा सब पाना,

हास, रुदन मेटो हे प्रिय, लो मेरी भूल बटोर !

३३

घिर रहा यह हृदय फिर से,
नयन आवृत हो रहे हैं।
आज कितनी विगत बातें
हृदय में रे जम रही हैं,
आज दिशि-दिशि दौड़ता मन,
वृत्तियां सब भ्रम रही हैं;
दाह क्रमशः बढ़ चला है
श्री चरण हम खो रहे हैं।

आज तेरी मूक वाणी
सुन रहा हूँ हृदय-तल में,
डूब सकती है न वह अब
विश्व-कोलाहल अतल में।
हे दयामय, नित्य अपने
चरण में मुझको शरण दो,
निज कृपा की स्निग्ध छाया का
मुझे तुम आवरण दो,
चेतना मेरी सजग, जग दिव्य हो
यह कह रहे हैं।

३४

कब से चले आ रहे मुझसे
मिलने—, हे स्वामी,
कहाँ छिपाएँगे, ये रवि, शशि
तुमको अनुगामी!

कब से सायं-प्रातः तेरी
पग-ध्वनि बजती है,
जाने, क्या अन्तर में तेरी
दूती कहती है,

विह्वल हैं, हे पथिक, आज
ये प्राण, न जाने क्यों,
रह रह कर यह हर्ष
कांप उठता अन्तर में त्यों;

ऐसा लगता मनचाहा अब
समय आ गया है,
कार्य हमारा जो था वह
परिणाम पा गया है,

वायु आ रही गन्ध लिए
तेरी, अन्तर्यामी!

३५

आओ, आओ मेघ,
सजल जलधारा बरसाने!
दे निज श्यामल स्नेह,
विश्व का जीवन सरसाने!
आओ हे, गिरि-शिखर चूमकर,
बन-वन छाया करो घूमकर,
गर्जन तर्जन करो घिरो हे,
नभ में मनमाने!

फूलों से पुलकित कदम्ब-वन
हिल-हिल उठता है,
नदी-किनारे कल-कल रोदन
मिट-मिट बढ़ता है,
आओ करुणा-धार बरसाने,
आओ जग की प्यास मिटाने,
घनी भूत आओ अन्तर में,
आँखों में छाने!

३६

छन्द-रचना में नहीं क्या
योग मैं अब दे सकूँगा!
टूटने, बहने, पतन का
बस, यही आनन्द लूँगा!

सुन रहा है क्या नहीं स्वर
जो मरण-वीणा सुनाती,
और जो ध्वनि चन्द्र, तारा,
सूर्य में भी व्याप जाती,

जलन का आनन्द लेने
अग्नि-ज्वाला में जो लूँगा!

गान की स्वर-लहरियाँ ये
किधर जातीं कौन जाने,
लौटकर पीछे न देखें,
बन्धनों को तुच्छ मानें,

लुट चलूँ या छूट जाऊँ
पर, न मैं क्षण भर रुकूँगा!

वह मधुर आनन्द ऋतुओं की
चरण-ध्वनि में छिपा है,
वर्ण, मधुमय गन्ध, गीतों का
प्रवाह वही कृपा है,

फेंककर या छोड़कर, मरकर
उसे क्या ले सकूँगा!

३७

छूटा रे, वह स्वप्न निशा का,
टूटा बन्धन टूटा रे!

छिप न सका मेरे अन्तर में,
आया जग में घूम,
हृदय-कमल के दल सब विकसे
सूर्य्य - रश्मियाँ चूम,
स्रोत हर्ष का फूटा रे!

खड़ा हुआ जो सम्मुख मेरे
द्वार हर्ष का खोल,
अश्रु-सिक्त अन्तर उसके
चरणों पर गिरा अमोल,
मुग्धालोक प्रभात रचाकर
चला गगन से हाथ बढ़ाकर,
आज हमारे मुक्त-द्वार पर
जय-जय का स्वर ऊँचा रे!
टूटा बन्धन टूटा रे!

३८

आनन्द-गान गा रे,

आनन्द-गान गा रे!

उज्ज्वल शरत्-प्रभा में,

आनन्द की सभा में,

नीले खुले गगन की,

आकुलित आर्द्र मन की—

बातें स्वकीय वीणा के

तार पर बजा रे!

श्यामल वसुन्धरा के

जो स्वर्ण-गीत सुन्दर,

उनको मधुर स्वरों में

तू दे उतार कर धर;

फिर उन मधुर स्वरों को

सरि-धार में बहा रे!

जो आज यहाँ सम्मुख,

उसका निहार ले मुख,

फिर द्वार खोल उसके

तू साथ-साथ जा, रे!

३६

यहाँ जो गीत गाने को चली
वह गीत गा न सकी,
रही स्वर साधती केवल,
सदिच्छा को निभा न सकी!

नहीं स्वर मुग्ध करता मन,
न बातें हृदय में बिधतीं,
हृदय में गीत व्याकुल है,
तरङ्गें प्राण में उठतीं!

बहे सुरभित समीरण, पर
कुसुम को भी खिला न सकी!

न देखा रूप ही सुन्दर,
न बातें सुन सकी मनहर,
सुनी केवल निरन्तर ध्वनि
चरण की मन्द, मृदु, मन्थर;

हमारे द्वारसे आवागमन करता,
उसे पल भर बिठा न सकी!

सदा आसन बिछाकर द्वार पर
बैठी रहूँ दिन भर,

न घर में दीप जलता है,
बुलाऊँ मैं भला क्यों कर!

मिलन की आस ले जीती
उसे मैं किन्तु पा न सकी!
यहाँ जो गीत गाने को चली
वह गीत गा न सकी!

४०

खो जाती जो वस्तु, उसे
लेकर बैठूँ कब तक भीतर,
नित चिन्ता में चूर जाग सकती न
रात भर, करुणाकर !

बैठी आशा में मैं निशि-दिन,
द्वार बन्द कर अपना पल छिन,
आना जो चाहे, शङ्का से
उसे हटा देती सत्वर !

मेरे तो एकाकी घर में
कभी न कोई आता है,
चिदानन्दमय भुवन तुम्हारा
बाहर हँसता गाता है,

समझ रही तुम राह न पाते,
आकर पुनः लौट हो जाते,
रखना जिसे चाहती, होता
एकाकार धूलि में भर !

———

४१

अहङ्कार का मलिन वसन व्यसन भरा
यह अतीव शीघ्र हमें छोड़ना होगा।
काज-काज में तमाम धूल भर गई,
भाँति-भाँति की कलङ्क-कीच पड़ गई,
भार सह्य है न, मार्ग मोड़ना होगा!
यह अतीव शीघ्र हमें छोड़ना होगा!
दिन ढला इधर, न उधर कार्य शेष है,
आगमन-समय प्रसन्न मन विशेष है,
स्नान कर अभी यहाँ पधारना होगा!
यह अतीव शीघ्र हमें त्यागना होगा!
अब समय रहा न, अतः हार के लिए
सान्ध्य - वन - सुमन तुरन्त तोड़ना होगा।
अहङ्कार आज हमें छोड़ना होगा।

४२

आज हमारे अङ्ग अङ्ग में पुलकावलि छाई!

आज नयन में नींद बरसती,

कौन हृदय में आकर बसती,

बाँध रही अन्तर में रञ्जित राखी सुखदायी!

आज विशाल गगन के तल में,

जल, स्थल, फल-फूलों के दल में,

पागल मन उड़ता फिरता है, शोभा मन भाई।

कैसा खेल हुआ है मेरा

आज तुम्हारे सङ्ग,

खोज थका पर भेद न पाया,

उठतीं भाव तरङ्ग,

यह आनन्द अरे, किस छल में,

गिरना चाहे आँसू-जल में,

विरह मधुर हो उठा, प्राण पर विस्मृति घिर आई।

४३

तुमको पिन्हाने के लिए
राखी चली मैं ले, प्रभो,
तुम हाथ अपना दाहिना
रखना न ढँककर, हे विभो!

राखी तुम्हारे हाथ की
जञ्जीर सब के हाथ की,
जो हैं जहाँ सब बद्ध होंगे
प्रेम में मेरे, प्रभो!

अपने-पराए में न अन्तर
शेष रह जाए कहीं,
मैं एक-सा देखूँ सदा
बाहर वही, भीतर वही;

तेरे अशेष वियोग में,
रोती फिरूँ जिस रोग में,
क्षण में मिटाने को उसे
तुम को पुकारूँ, हे प्रभो!

———

४४

जगती के आनन्द-यज्ञ में
अपना आज निमन्त्रण पाकर
धन्य-धन्य हो उठा हमारा
मानव का यह जीवन सुन्दर !

आँखें भरीं रूप-दर्शन से,
साध मिटातीं चल-चितवन से,
हो उठते हैं श्रवण मग्न
गम्भीर-स्वरोंमें जगती-तलपर !

इस आनन्द-यज्ञ में मुझ को
काम मिला वंशी-वादन का,
गीत-गीत में गूँथ दिया है
स्वर प्राणों के हास-रुदन का;

समय हो गया हो यदि, प्रभुवर,
तो जाकर के सभा-मञ्च पर
एक बार जयकार सुनाकर
जाऊँगा, दो यही मुझे वर !

४५

करके प्रकाश को प्रकाशवान, चौगुना
आया प्रकाश का प्रकाश लोक-लोक में,
मेरा अपार नयन-अन्धकार मिट गया,
फैला प्रकाश लोक के समस्त ओक में!
ये भूमि-आसमान सभी हर्ष से भरे,
जो वस्तु देखता वही हठात् मन हरे!
तेरा प्रकाश तरुवर के पात-पात पर,
जो है बना रहा प्रमत्त प्राण नृत्य पर!
तेरा प्रकाश विहग-नीड़-सुप्त गान को
जागर्ति दे रहा यहाँ वहाँ त्रिलोक में!
तेरा प्रकाश मुझको हे, प्यार कर रहा,
मेरे शरीर पर वही अटूट पड़ रहा,
इस भाँति पा अपार प्यार आपका, प्रभो,
मैं पड़ सका कभी नहीं विशाल शोक में!

४६

आसन-तल की धूलि उसी में मैं मिल जाऊँगी,
धूसर हूँगी चरण-धूलि में हर्ष मनाऊँगी!
सम्मानित कर दूर हमें क्यों रखते, प्राणाधार,
जीवन भर इस भाँति भुलाओ मत हे सर्जनहार!
असम्मान से खींचो, चरणों में मैं आऊँगी!
उसी में मैं मिल जाऊँगी।

यात्री-दल में सब से पीछे चली चलूँगी नाथ,
मुझ को बैठाना सब से नीचे मेरा धर हाथ;
तव प्रसाद-हित कितने आते दौड़े यात्री लोग,
नहीं चाहिए मुझ को कुछ, मैं देखूँगी सुख-भोग!
सब के बाद बचेगा जो कुछ उसको पाऊँगी!
धूलि में हर्ष मनाऊँगी!

४७

अरूप रतन की आशा में
रूप-सागर में कूदूँगा !
घाट - घाट पर नहीं बहूँगा
फेकूं नाव पुरानी,
लहरों पर धक्के खाने की
कीमत आज चुकानी,
मरकर अमर रहूँगा,
और अमृत हित डूबूँगा !
जहाँ नित्य ही गान
कि जो कानों से सुने न जावें,
ऐसी अतल सभा में
प्राणों की वीणा पहुँचावें।
चिर दिन के स्वर बाँध
अन्त में उनका रुदन सुनाकर
जो है मौन उसी के पद में
वीणा रख दूँगा !

४८

गगन - तल में खिला सहसा
सखे, आलोक का शतदल
खिले मन - मुग्ध दल पर दल,
चले छाकर दिशा अञ्चल,
गए ढक तिमिर का सारा निविड़ विस्तीर्ण काला जल !

सुनहले कोष में सुखकर
प्रमुद आसीन हूँ, सहचर,
रहा खिल घेर कर मुझको सखे आलोक का शतदल !
गगन से प्रिय, तरङ्गित हो पवन प्रमुदित चला जाता ।

चतुर्दिक गान हैं जाग्रत,
चतुर्दिक प्राण ये नर्तित,
गगन में भर उठा मृदु-स्पर्श जो तन में समा जाता !
पहुँच कर प्राण सागर में,
लिया रख प्राण को उर में,
हमें रे, घेर बारम्बार मारुत विश्व में छाता !
चतुर्दिक् घेर कर अञ्चल धरणि है गोद में लेती ।
रहे जिस ठौर जो प्राणी,
बुलाती धरणि कल्याणी,
सभी के हाथ पर वह अन्न सुख के साथ धर देती ।

भरा मन स्वर, सुरभि छककर
सुखी हूँ हर्ष से भरकर
चतुर्दिक् घेर अञ्चल से धरणि है गोद में लेती।
हे आलोक प्रणाम, भूल जाओ
मेरे अपराध,
पितृ-देव का इस ललाट पर
रक्खो आशीर्वाद
नमस्कार हे पवन, मिटा दो
मेरा सब अवसाद,
रोम-रोम में भरो पिता का
मेरे आशीर्वाद!
धरणी, तुमको नमस्कार, मेटो
मेरी सब साध,
मेरे गृह को भरो पिता का
लेकर आशीर्वाद!

४६

हृदय बिछाकर बैठे वे
मेरे घर में सुख मूल,
सज्जित कर दे आसन उनका
प्यारे, मन—अनुकूल!

प्रमुदित गाते गीत
साफ़ कर दे रे, सारी धूल,
सावधान हो बाहर करना
आवर्जना समूल;

जल को छिड़क सजाकर रख दे
डाली में सब फूल,
सज्जित कर दे आसन उनका
प्यारे, मन—अनुकूल!

हम लोगों के घर में ही
वे रहते दिन और रात,
उनकी मधुर हँसी से
ज्योतित होता स्वर्ण-प्रभात!

प्रातः आँखें खोल देखते
ज्यों ही हम उस ओर,—
साफ़ देखते हैं, वे प्रमुदित
देख रहे इस ओर!

उनके मुख का हर्ष छलकता,
सारे घर में तात!
उनकी मधुर हँसी से ज्योतित
होता स्वर्ण—प्रभात!

गेह हमारे एकाकी वे
करते समय व्यतीत
जब हम लोग चले जाते हैं,
कहीं कार्यवश, मीत,

आगे चल वे यहाँ द्वार तक
हमको पहुँचाते,
सुख से पथ पर दौड़
हम सभी गीत मधुर गाते!

काम काज के बाद लौटते
दिन जब जाता बीत,
गेह हमारे एकाकी वे
करते समय व्यतीत!

हम लोगों के भवन
जागते हैं वे सारी रात,
शय्या पर जब सोते रहते
हम सब सुख के साथ!

जग में कोई देख न पाता
उनकी दीप-शिखा,
अञ्चल में छिप जलता
रहता दीपक (चित्र-लिखा)!

स्वप्न असंख्य नींद में
आते जाते सारी रात,
हँसे तिमिरमय घर में वे
तब सखे, हर्ष के साथ!

५०

शान्त प्राण के देव
जहाँ जागते अकेले,
भक्त, खोल दो द्वार
उन्हीं की झांकी ले लें!

दिन भर रह कर बाहर-बाहर
किसे देखता घूम-घूम कर,
सान्ध्य-आरती में न लगे
प्राणों के मेले!

तेरे जीवन के प्रकाश से
जीवन——दीप——जलाऊँ,
अहे पुजारी, आज शान्ति से
अपना थाल सजाऊँ;

जहाँ विश्व की निखिल साधना—
पूजालोक रचाती अपना,
रक्खूँगा मैं क्षीण-ज्योति की
रे खा व हीं अ के ले

५१

किस प्रकाश से आशा-दीप
जलाकर आते, करुणाधार,
साधक हे, प्रेमी, हे पागल,
इरते उतर धरा का भार !

यह अकूल संसार,
कि जिसमें दुख-आघात प्राण-वीणा को तेरी दें झङ्कार !
घोर दुःख के बीच
किस जननी की हँसी देखकर हँसते तुम अविकार !
किसे खोजने हेतु
सकल सुखों पर आग फेंक कर घूम रहे, भव-सेतु !
व्याकुल करके तुम्हें रुलाता कौन
कि जिसको करते इतना प्यार !
कुछ भी चिन्ता नहीं तुम्हारी,—
कौन तुम्हारा सखा, उसी की चिन्ता मन में भारी !
और मरण को भूल
करते हो किस प्राण-सिन्धु में तुम आनन्द-विहार !

———

५२

तुम्हीं हमारे स्वजन, तुम्हीं हो पास हमारे,
यही बात कहने दो, मुझको कहने दो !
तुम में ही आनन्द तुच्छ जीवन के सारे,
यही बात कहने दो, मुझको कहने दो !
दे दो मुझे सुधामय स्वर,
वाणी करो मधुर मनहर,
तुम हो मेरे प्रियतम, मुझको
यही बात कहने दो, मुझको कहने दो !
यह समस्त नभ - धरती तल—
भरते पा तेरा सम्बल,
मेरे अन्तर से है, मुझको
यही बात कहने दो, मुझको कहने दो !

———

५३

अवनत कर दो देव, मुझे तुम
अपने मञ्जु चरण-तल में,
मन को गला प्रवाहित कर दो
जीवन नयन - अश्रु - जल में !

अहङ्कार के उच्च शिखर पर
बैठा हूँ एकाकी प्रभुवर,
बल से पाषाणी आसन को
मिला धूल में दो पल में !

अवनत कर दो देव, मुझे
तुम अपने मञ्जु चरण-तल में !

क्या लेकर मैं गर्व करूँ, प्रभु,
अपने इस नश्वर जीवन में,
बिना तुम्हारे शून्य पड़ा हूँ
मैं अपने इस भरे भवन में ;

दिन का कर्म डूबता मेरा
प्रभो, तुम्हारे अञ्चल में,
सन्ध्या-बेला की यह पूजा
हो न कहीं निष्फल पल में !

अवनत कर दो देव, मुझे तुम
अपने मञ्जु चरण - तल में !

५४

गन्ध - विधुर समीर में मैं
ढूँढ़ता किसको विजन में !
क्षुब्ध नीलाम्बर दिखाता,
क्या विकल क्रन्दन सुनाता,
करुण गीत दिगन्त का चिन्ता
जगाता आज मन में !
गन्ध-विधुर समीर में क्या
ढूँढ़ता अन्तर सदन में !
किस अजाने राग में घुल,
जागता यौवन समाकुल
आम्र-मुकुल सुगन्धि में भर,
पत्र-मर्मर छन्द रचकर,
सुधा-सिञ्चित गगन में,
रे, अश्रु-सुख में प्रमुद निर्भर—
घूमता किस स्पर्श-सुख से
आज पुलकित मुदित मनमें !
गन्धविधुर समीर में मैं ढूँढ़ता
किस को विजन में !!

५५

आज वसन्त द्वार पर आया !
अवगुंठित कुण्ठित जीवन में जाय न वह ठुकराया !
आज खोल दो हृदय - पद्म - दल
भूलो निज - पर - भाव अचञ्चल ,
गीत - मुखर इस गगन - प्रान्त में
उठें गन्ध की लहरें विह्वल ,
दिशा - हीन त्रिभुवन में कर दो मधुर माधुरी छाया !
वन के पात पात पर शोभित
आज वेदना गहरी , रानी ,
दूर देख किसका पथ नभ में
विकल धरा की जगी जवानी ;
मलय पवन ने प्राणों को छू ,
दर - दर वस्तु कौन सी मांगी ,
सौरभ से विह्वल यह रजनी
किसके चरणों में रे , जागी ;
हे सुन्दर, कमनीय, प्राण-धन, किसने तुमको आज बुलाया !

५६

अपने सिंहासन से पल में
नाथ, उतर तुम आए,
निर्जन घर के द्वार सामने
मेरे खड़े दिखाए!

एकाकी बैठा मन ही मन
मैं गाता था गान,
आए उतर, पड़ा जब स्वर वह
नाथ तुम्हारे कान;

तेरी सभा बीच हैं कितने
गाने और गुणवान,
किन्तु प्रेम में बसा तुम्हारे
आज हमारा गान!

विश्व-तान में एक करुण स्वर
जा ज्यों ही टकराये—
लिए हाथ में वर-माला
तुम तुरत उतर कर आए

निर्जन घर के द्वार सामने
मेरे खड़े दिखाए!
अपने सिंहासन से पल में
नाथ, उतर तुम आए!

निर्जन घर के द्वार सामने
मेरे खड़े दिखाए!

५७

अपनाओ इस बार मुझे हे,
अपनाओ इस बार !
जाओ मत, अब खींच हृदय को
ले लो करुणागार !
तुम बिन जो वे घड़ियाँ बीतीं,
नहीं चाहता लौटें जीतीं,
निशि-दिन जागूँ इस जीवन में
ले तव ज्योति अपार !
किस चिन्ता में, किन बातों में
घूम रहा पथ में, प्रान्तों में,
छाती पर सिर रख अब तो हे,
बातें करो, उदार
कितने पाप और छलनाएँ,
अब भी मन में गुप्त दिखाएँ,
उनके लिए न अब भटकाओ
कर दो उनको छार !

———

५८

जीवन जिस क्षण सूख चले
तुम करुण - धार में आ जाना,
सकल माधुरी जब छिप जाए
गीत - सुधा - रस बरसाना !

भी मा का र कर्म गुरु - ग र्ज न
कर जब छावे चारों ओर
हृदय - प्रान्त में शान्त चरण धर
नी र व हे प्र भु व र, आ ना !

अपने बनकर कृपण दीन मन
पड़ा हुआ हो कोने में,
राजा का कर समारोह तुम
द्वार खोल भीतर आना !

धूल झोंक कर विपुल वासना
जब कर दे अन्धा, मतिहीन,
चि दा नन्द हे पावन,
भीमालोक - युक्त मन में छाना !

५६

नीरव कर दो, हे!

आज मुखर कवि को तुम अपने नीरव कर दो हे!

उसकी हृदय-बाँसुरी लेकर गुरु-स्वर भर दो हे!

अर्द्ध रात्रि का घनतम स्वर भर

तान फूँक दो वंशी में वर,

जिसे सुना कर ग्रह-शशि को तुम नीरव कर दो हे!

जो कुछ बचा हुआ जीवन का

गान चरण में लावे,

बहुत दिनों की वाक्य-राशि सब

पल में सिमट समावे;

वंशी का स्वर सुनूँ मौन निस्सीम तिमिर दो हे!

६०

विश्व जब हुआ प्रसुप्त,
गगन अन्धकार - युक्त
झङ्कृत कर रहा कौन वीणा के तार तार!
निद्रा को लिया माँग,
बैठा मैं शयन त्याग,
आँख खोल देखता, न दीखता किसी प्रकार!
झंकृत को सुन सुनकर प्राण
भर उठे,
व्याकुल - स्वर के अजान
गान पर लुटे;
कौन वेदना न ज्ञात
जिससे उर अश्रु - स्नात!
कौन के गले उतार दू स्वकीय कण्ठ-हार!

६१

वह आकर बैठा पास यहाँ
तब भी तू हाय, नहीं जागी,
री, कैसी नींद लगी तुझको
बतला तो मुझसे, हतभागी!
आया था शान्त निशा में वह
वीणा थी उसके हाथों में,
गम्भीर रागिनी सुना गया
सपने में बातों बातों में!
जगकर देखा री, मलय पवन
लेकर उसका आमोद मदिर
आपूर्ण कर रहा अन्धकार,
प्राणों को पागल औ' अस्थिर!
कैसे बीते रजनी मेरी
जब पाकर उसको पा न सकी,
उसकी माला का मधुर स्पर्श
छाती पर अपने ला न सकी!

———

६२

सुनती नहीं पद - ध्वनि उसकी
जो नित्य-प्रति आता है,
युग-युग पल - पल रात और दिन
आता जो दिखलाता है!
गाया है जो गान पागलों-सा
मैं ने अपने मन में,
उसका स्वागत - गान जागता
सकल स्वरों के गुञ्जन में,
कितने फाल्गुन में आता है
वह सदैव वन के पथ से,
कितने श्रावण के तम में आता है
वह घन के रथ से!
दुख जब घनीभूत हो उठता, वह
अन्तर में आता है,
सुख के समय स्पर्श - मणि देता
आता स्नेह निभाता है!

६३

मान गया मैं हार।
गया गिराने तुमको मैं
गिर गया स्वयं लाचार!
तुमको ढकना चाहेगा जो
मेरे हृदय-गगन से, वह तो
नहीं सफल हो पावेगा,
निश्चित है, करुणा गार!
वह अतीत जीवन छाया सा
पीछे पीछे चलता आता,
कितनी माया के वंशी स्वर में
वह मुझको नित्य बुलाता;
छूटा उसका सङ्ग-साथ सब
देव, तुम्हारे हाथ पड़ा अब,
जो कुछ है मेरा जीवन-धन,
लाया तेरे द्वार!

६४

एक एक कर खोलो गायक,
अपना तार पुराना,
नए तार फिर आज बाँधकर
नया सितार बनाना!
बिखर गया दिन भर का मेला,
सभा सजेगी सन्ध्या बेला,
शेष स्वरों के वादक को अब
इसी समय है आना!
नया सितार बनाना!

द्वार खोल दो, अन्धकार छा गया
व्योम के ऊपर,
सप्त लोक की नीरवता आने दो
तुम अपने घर!
इतने दिन जो गाने गाए,
आज अन्त उनका हो जाए,
है यह यन्त्र तुम्हारा,—
ऐसी बात न मन में लाना!
नया सितार बनाना!

६५

कब मैं गान तुम्हारा गाता
जग में आया ;
आज नहीं , हाँ, आज नहीं!

भूल गया कब दर्शन पाया ,
हृदय बसाया ,
आज नहीं, हाँ, आज नहीं !

झरना जैसे बाहर जाए ,–
किस पर वह इतना इतराए!–

जीवन - धारा का प्रवाह ले
त्यों मैं धाया ,
आज नहीं हाँ , आज नहीं !

विविध नाम से जिसे पुकारूँ ,
जिसके कितने चित्र उतारूँ

उसका वास न ज्ञात,
च लूँ उ न्मा द ह र्षा या !

सुमन प्रकाश-हेतु अनजाने
जागे निशि में दुःख न माने,

उसी प्रकार आस से तेरी
अन्तर छाया ,
आज नहीं, हाँ, आज नहीं !

६६

प्रेम तुम्हारा वहन कर सकूँ
ऐसी मुझ में शक्ति नहीं,
इसीलिए रखते हो मुझ से
तुम सीधी अनुरक्ति नहीं!

करके कृपा नाथ, रखते हो—
तुम पथ में अनेक व्यवधान,
सुख-दुख की अनेक बाधाएँ,
धन, जन और लोक-सम्मान!

पर्दे में छिपकर क्षण-क्षण पर
दिखलाते अपना आभास,
कृष्ण-मेघ के खण्ड बीच—
ज्यों रवि-रेखाका मृदुल विलास!

शक्ति जिसे देते सहने की
सीमा-हीन प्रेम का भार,
एक बार ही सारा पर्दा
उसका करते दूर किनार!

रखते नहीं उसे गृह-बन्धन,
रखते पास न उसके धन,
पथ पर लाकर एक बार ही
करते उसे अकिञ्चन जन!

मान और अपमान न रहता
भय, लज्जा, सङ्कोच नहीं,
एक तुम्हीं सब कुछ हो उसके
विश्व-भुवनमय, सभी कहीं!

इस प्रकार देखा-देखी कर
रहकर सदा तुम्हारे साथ,
एकमात्र तुमसे ही करता
अपने प्राण पूर्ण वह, नाथ!

पाई जो यह दया, न उसका
लोभ रहे फिर सीमावान,
अन्य लोभ सब फेंक बहाता
तुम को ही देने को स्थान!

६७

आए तुम थे मनोज्ञ, आज प्रात में,
अरुण - वर्ण पारिजात लिए हाथ में!
निद्रित था नगर, पथिक था न राह में,
कनक - रथ चढ़े चले गए उछाह में,
करुण - दृष्टि से क्षणेक देख था लिया
रुककर वातायन से दृष्टि - पात में!
आए तुम थे मनोज्ञ, आज प्रात में!
किस सुगन्धि से मदीय स्वप्न था भरा,
गृह - तिमिर अजान हर्ष में हुआ हरा,
शब्द - हीन बीन धूल में पड़ी हुई
बज उठी अनाहता अज्ञात बात में!
आए तुम थे मनोज्ञ, आज प्रात में!
जाग उठी बार बार सोचती हुई,
अलस - भाव - त्याग दौड़ मार्ग पर गई,
ज्यों गई तुरंत तुम कहीं चले गए
देख भी सकी नहीं तुम्हें प्रभात में!
आए तुम थे मनोज्ञ आज प्रात में!

६८

हम तुम खेला करते थे जब
कौन तुम्हें पहचान सका !
जीवन बहता था अशान्त
कब भय, लज्जा को मान सका !

कितनी बार बुलाया तुमने
मुझे सबेरे मित्र-समान,
साथ तुम्हारे वन वनान्त में
हँसता घूमा उस दिन, प्राण !

उस दिन तुमने गाए गाए
किसने अर्थ समझ पाया,
नाच रहा था मन अशान्त
हाँ, प्राणों ने हिल-मिल गाया !

बीता खेल, देखता क्या हूँ—
स्तब्ध गगन, नीरव शशि-सूर,
विश्व खड़ा तेरे चरणों में
विनत-नयन, एकान्त, अदूर !

६९

प्राण, दी तुमने नौका खोल
कौन खेवेगा तेरा भार!
सामने जब जाओ, हे मीत,
न देखो पीछे हो भयभीत,
गया तू पीछे लाने भार—
रहा एकाकी इसी किनार!
लाद सिर पर सारा गृह-भार
रख दिया लाकर, रे, इस पार,
इसी से लौटा बारम्बार
गया पथ भूल, हुआ बेकार!
बुला फिर नाविक को, असहाय,
बोझ सब बहने दे, बह जाय,
अरे, करके उजाड़ जीवन
सौंप दे उन चरणों के द्वार!

७०

खो गया हृदय अधीर जलद - जाल में,
चल पड़ा किधर अजान मदिर चाल में!
विद्युत् यह बीन - तार
छेड़ रही बार - बार,
अन्तर में बजे वज्र
महा - ताल में!
पुञ्ज - पुञ्ज, भार - भार
निबिड़ नील अन्धकार,
प्राण में प्रविष्ट हुआ
अङ्ग - माल में!
नृत्य - लीन मधु समीर
साथ हमारे अधीर
अट्टहास कर चला
न मानता हमें!

७१

हे मूक, नहीं यदि बोलोगे
हाँ, नहीं कहोगे प्रेम - कथा,
तो मैं अपने अन्तस्तल में
ढोऊँगी तेरी नीरवता!
मैं शान्त रहूँगी पड़ी
अरे, रजनी जैसे चुप रहती है,
तारका जलाकर निर्निमेष
हो विनत सभी कुछ सहती है!
होगा प्रभात, होगा प्रभात
यह अन्धकार मिट जाएगा,
स्वर्णिम - धारा में तव वाणी
आकाश टूट बरसाएगा!
विहगों के नीड़ों में तेरी
वाणी में गाने जागेंगे,
मेरी वन - लता खिलेगी औ'
वन - कुसुम नींद को त्यागेंगे!

७२

जितनी बार जलाना चाहूँ
दीपक बुझता बारम्बार,
मेरे जीवन में तव आसन
बना हुआ है तिमिर अपार!

पुष्प नहीं खिलते, मुर्झाती
लता गाड़ने पर हर बार
मेरे जीवन में तव सेवा
बनी वेदना का उपहार!

पूजा का न वृहद् आयोजन,
नहीं पुण्य का हो कुछ लेश,
तेरा दीन पुजारी आता
धारण कर लज्जा का वेश!

जनरव-हीन दीन का उत्सव
सजा घर न वंशी स्वर-तार,
रोता तुम्हें बुला लाया है
अपने टूटे घर के द्वार!

७३

छिपाकर दुनिया से मैं नाथ,
तुम्हें रख लूँगी आँखों में!
प्राण, यदि किसी समय निशि-दिन
दया करके, अन्तर्यामिन्,
हमारे हाथों में दो हाथ,
तुम्हें धर लूँगी लाखों में!
न मान देने का मुझ में बल,
न पूजा का ही है सम्बल,
किन्तु, यदि करता तुमको प्यार
बहेगी खुद वंशी स्वर-धार,
पुष्प खिल जाएंगे चुपचाप
गहन-वन की तरु-शाखों में!

७४

वज्र-सी उठे बाँसरी - तान
भला, वह है साधारण गान!
उसी स्वर से मैं जागूँगा
मुझे तुम दे दो वैसे कान!

सहज ही भूलूँगा मैं नहीं,
प्राण होंगे मतवाले वहीं,
मृत्यु के अवगुण्ठन में लीन
हमारे पड़े हुए जो प्राण!

उठे आँधी-सा वह आनन्द
चित्त-वीणा के तारों पर,
सप्त जलनिधि औ' दशों दिगन्त
नचा दो उन झङ्कारों पर!

सुखों से कल्पित, देव, निकाल
चलो लेकर मुझको तत्काल,
उसी कोलाहल - बीच जहाँ
शान्ति रहती है महिमावान्!

७५

दया करके मेरा जीवन
तुम्हें धोना होगा, पावन,
नहीं तो छू पाऊँगा, भला,
किस तरह तेरे मञ्जु चरण!

तुम्हारे पूजन की डाली
उलट कर गिरी स्वयं ही कल,
इसी से प्राण नहीं बढ़ते
तुम्हारे छूने चरण युगल!

अभी तक कोई भी तो नहीं
कहीं था मेरे मन में क्लेश,
सभी अङ्गों में थी मेरे
मलिनता भरी हुई स-विशेष!

आज इस शुभ्र अङ्क के लिये
हृदय व्याकुल करता क्रन्दन,
न देना अब सोने इसको
धूलि में फिर से, जग-वन्दन!

८७६

होगी जब सभा समाप्त, कहो,
तब शेष-गान गा पाऊँगा ?
रे, कण्ठ-रोध होगा तब मुँह की—
ओर देख रह जाऊँगा !

रे जब स्वर अब न काम करता
क्या वही रागिनी जागेगी ?
यह प्रेम-व्यथा क्या स्वर्ण-ताल में
सान्ध्य-गगन में छावेगी ?

इतने दिन जो साधा है स्वर
नित रात और दिन निज मन में,
अब वही साधना यदि सुभाग्यवश
हो समाप्त इस जीवन में !

इस जीवन की वाणी जो है
मानस-वन की पङ्कज- माला,
रे, विश्व गान के सागर में
मैं बहा चलूंगा मतवाला !

७७

चिर जन्म की है वेदना,
चिर जीवनों की साधना!
जल उठे तेरे अनल में,
कर मत कृपा यदि निबल मैं,
जो ताप पाऊँगा सहूँगा
जले विस्तृत वासना!
अपनी अमोघ पुकार से
लो बुला, क्यों अब देर यह,
जो वक्ष पर बन्धन पड़ा
पीछे पड़े दो टूक वह!
गर्जन करेगी शङ्ख कब,
बज उठे वह इस बार अब,
सब गर्व टूटे, नींद छूटे,
प्रखर जागे चेतना!

७८

जब तुम आज्ञा देते मुझको गाने की
तब गर्व हृदय में मेरे है भर आता,
मेरी युग आँखें अश्रु - धार बरसातीं,
मैं निर्निमेष देखता तुम्हें रह जाता।

जो कुछ है कटु औ' कठिन विकल प्राणों में,
गल जाना चाहे पीयूषी गानों में,
साधन आराधन मेरे सारे सुख से
उड़ जाना चाहें ज्यों विहंग उड़ जाता!

तुम हो प्रसन्न मेरे गीतों से, मोहन,
अच्छा लगता है तुमको मेरा गायन,
जानता इसी गाने के ही तो कारण
मैं बैठ तुम्हारे सम्मुख, प्रभुवर, पाता!

मन द्वारा जिसके पास न मैं जा पाता,
गानों द्वारा उनके पग को छू आता,
स्वर की मादकता में अपने को भूलूँ,
अपने स्वामी को कहकर सखा बुलाता!

७६

जाती जैसे मेरी सारी अभिलाषा
हे प्रभो, तुम्हारी ओर, तुम्हारी ओर, तुम्हारी ओर!
छूती जैसे गम्भीर हमारी आशा
हे प्रभो, तुम्हारे छोर, तुम्हारे छोर, तुम्हारे छोर!
मेरा अन्तर जब जहाँ कहीं भी रहता
तेरी पुकार पर मानो है वह बहता,
टूटतीं सभी बाधाएँ मानो पल में
हे प्रभो, तुम्हारे जोर, तुम्हारे जोर, तुम्हारे जोर!
बाहर की भीख भरी यह मेरी थाली
सहसा मानों हो गई आज रे, खाली,
अन्तर मेरा चुपचाप किन्तु भर जाता
पा तव करुणा की कोर, तुम्हारी कोर, तुम्हारी कोर!
हे मेरे सखा, विकल प्राणों के प्यारे,
इस जीवन में जो कुछ सुन्दर हैं सारे
वे आज बज उठें तव गायन के स्वर में,
प्रभु, उठे मनोज्ञ हिलोर, मनोज्ञ हिलोर, मनोज्ञ हिलोर!

८०

दिन में वे आये थे
हमारे घर में यहीं;
और कहा—"पड़े रहेंगे
सभी यहीं कहीं !"

कहा था—"करेंगे देव-सेवा
में सहायता,
पूजा ज्यों खतम होगी
लेंगे कुछ भाग पा !"

इस भाँति दीन औ,
अभद्र वस्त्र पहने,
कोने में सकुच साथ
गये एक रहने !

रात में प्रबल हो
घुसे महेश-घर में,
पूजा - वलि कर ली
मलीन निज कर में !

८१

लेकर तेरा नाम लिया कर
पथ में दिखला करके बल,
पुनः घाट पर आकर देखा
पार न जाने का सम्बल!

दिखला तेरा मिथ्याभास,
करते वे धन-जीवन-नाश,
जो कुछ भी था मेरा अपना
लिया उसे भी करके छल!

पहचानूँ मैं, देव, भली-विधि
आज छद्म-वेशी - दल को,
पर, वे भी पहचान रहे हैं
भली-भाँति मुझ गत-बल को!

इसीलिये छल-रूप छोड़ कर
लाज-शरम का बाँध तोड़ कर
सिर ऊँचा कर राह रोक कर
खड़े हुए हैं आज सदल!

८२

आज चांदनी रजनी में
जागते हमारे प्राण ;
पास तुम्हारे मिल सकता है
क्या मुझको भी स्थान ?
देख सकूँगा वह अनुपम मुख,
झाँकेगा अन्तर हो उत्सुक,
घेर चरण को बार-बार
घूमेगा गीला गान !
साहस कर तव चरण-मूल में
अपने को रखता न, धूल में—
पड़ा हुआ हूँ, देव, लौटकर
दे दो मेरा दान !
यदि तुम मेरा हाथ पकड़कर
उठने को, बस, कहो कृपाकर,
तो प्राणों की निखिल दीनता का
होवे अवसान !

८३

थाम थी, एक नाव से, देव,
चलेंगे हम अनजाने देश,
अकारण यात्रा होगी किन्तु
न जानेंगे ये भुवन अशेष !

सुनाऊँगी मैं स्वर्णिम गान
अकूल जलधि में लगा प्रिय-कान,
सुनोगे शब्द - बन्ध निर्मुक्त
रागिनी लहरों-सी अनिमेष !

नहीं क्या अवसर आया, अरे,
साँझ झुक गई सिन्धु के तीर ?
मार धूमिल प्रकाश में पङ्ख
आ गये विहग, बस गये नीड़ !

घाट कब आओगे भगवन्,
काटने ये मेरे बन्धन,
अस्त रवि-अन्तिम-किरण-समान
नाव छिप जाएगी, प्राणेश !

८४

अपने एकाकी घरकी
सीमा को तोड़ जगत् में—
कब बाहर हो पाऊंगा
मैं इन प्राणों के रथ में !
सब के बीच प्रेम से विह्वल
दौड़ूँगा सब का बन सम्बल,
तुम से होगी भेंट, प्राण,
मेले के परिचित पथ में !
कब बाहर हो पाऊँगा मैं
इन प्राणों के रथ में !
आशाकांक्षा के सुख-दुख में—
लूंगा प्रवाह सह उत्सुक मैं,
मैं भले-बुरे की ठोकर खा
जागूँगा तेरे अन्तर में !
तेरी वाणी सुन लूँगा
जग-कलरव अप्रतिहत में !
कब बाहर हो पाऊँगा
मैं इन प्राणों के रथ में !

८५

मैं अकेला घूम सकता हूँ नहीं
इस भाँति विह्वल,
हृदय के प्रति कोण में रे मोह के
तम में अञ्चल!
एक तुमको बाँधने को डालकर
निज बाहु-बन्धन
मैं गया छोटा समझ कर घेरने
तुमको, सुमनतन!
किन्तु अपने को स्वयं निज डोर में
बाँधा विगत-बल!
पा तुम्हें लूँगा निखिल के बीच में
जब, प्रेम-पावन,
पा तभी लूँगा हृदय का राज्य मैं
पल में सुशोभन!
चित्त मेरा वृन्त केवल,
और उसपर विश्व-शतदल,
दो दिखा उस पर मुझे
आलोक अपना पूर्ण उज्ज्वल!

८६

यदि जगा दिया मुझे, अनाथ जानकर,
लौटना न नाथ, करो दया दास पर!
निविड़ हरित तरु - तरु की डाल - डाल पर
झड़ रहे असाढ़ के मनोज्ञ वारिधर,
बादल - दल से भरी हुई मदिर निशा
नींद घोलती खड़ी विपुल अशान्तिहर!
लौटना न नाथ, करो दया दास पर!
चञ्चला - निपात में अनिद्र प्राण ये,
उत्सुक जल-धार साथ गान के लिए,
अश्रु - धार - सिक्त हृदय निकल तिमिर में
खोज रहा शून्य में तुम्हें पसार कर!
लौटना न नाथ, करो दया दास पर!

८७

चुन लो, हे, अविलम्ब सुमन को।
गिर मिट्टी में मिल जाएगा
ऐसा भय है मन को!
सम्भव है, त य-हार में
स्थान न पाने योग्य—
हो यह सुमन, किन्तु
तेरा आघात मिले इस जन को!
चुन लो, हे, अविलम्ब सुमन को!
भय है, दिन भी बीत न जाए
अन्धकार घिर कर आएगा,
तेरी पूजा का शुभ अवसर
अनजाने गत हो जाएगा!
जो कुछ रंग-रूप है इसमें
गन्ध, सुधा जो कुछ अन्तस् में,
अब भी समय शेष है, ले लो
सेवा में इस धन को!

८८

तुम्हें चाहता, प्राण,
सदा तुमको ही चाहूँ
इसी बात को मैं जिससे
निशि-दिन निबाहूँ!

और वासना-विवश
रात-दिन जो करता हूँ,
वह रे सभी असत्य
नाथ, मैं तुमको चाहूँ!

रजनी ज्यों आलोक-कामना
उर में रखती,
मोह-जड़ित मम वृत्ति
तुम्हें वैसे ही भजती!

झञ्झा शान्ति-विनाश करे
पर उसको चाहे,
त्यों मन करे विरोध
किन्तु बस तुमको चाहे!

८६

प्रेम हृदय का नहीं भीरु है
और नहीं है शक्ति-विहीन
तो फिर क्यों व्याकुल होकर, हे,
अश्रु-धार में होगा लीन !

मधुर रूप, शोभा की प्याली
इसे बनाती क्यों मतवाली,
हर्षोन्मत्त नागना चाहे
साथ तुम्हारे हो तल्लीन !

जब तुम नाचो भीम भयङ्कर
तीव्र ताल - संघात प्रखरतर,
भागे तब यह संशय-कातर
लिपट लाज में साहस-हीन !

उस प्रचण्डतम मनोहरण का
प्रणय वरण करले मम मन का,
वही रसातल दो जो उसकी
लघु आशा का स्वर्ग नवीन !

६०

कठिन स्वरों में झङ्कृत करदो
जीवन तार हमारा,
सह सहता है और कठिन
आघात तन्त्र यह प्यारा
राग जगे जो विकल प्राण में,
नहीं जागता चरम-तान में,
निठुर मूर्च्छना के गाने में
चित्र उतारो न्यारा !
केवल कोमल करुण रागिनी की
न सुनाओ तान
मृदु स्वर की क्रीड़ा में मेरे
व्यर्थ करो मत प्राण !
जल उठने दो सकल हुताशन,
पूर्ण वेग में चले प्रभञ्जन,
जगे सकल आकाश,
व्यक्त हो पूर्ण स्वरूप तुम्हारा !

६१

यह अच्छा करते हो, निष्ठुर,
अच्छा ही करते हो,
इसी भांति अन्तर में मेरे
तीव्र ज्वाल भरते हो !
बिना जलाए धूप हमारा
गन्ध न कुछ भी डाले,
बिना जलाए दीप हृदय का
नहीं प्रकाश निकाले !
अहे, चेतना-हीन चित्त जब
यह मेरा रहता है,
तेरे निठुर परस को ही
यह पुरस्कार कहता है !
मोह, लाज में देख न पाता हूं
मैं शोभा तेरी,
कठिन वज्र से अग्नि बनादो
सकल कालिमा मेरी !

६२

देव समझ कर दूर रहूँ मैं,—
स्वजन-सदृश आदर न करूँ,
पिता समझ करता प्रणाम मैं
मित्र समझ मैं कर न धरूँ!

अपने अतिशय सहज प्रेम से
मेरे बन नीचे आते,
सुख से मैं अन्तर में रखता
नहीं मित्रता के नाते!

भ्राता हो तुम औरों से, पर
नहीं ध्यान देता उन पर,
नहीं बाँटता निज धन उनको
सब रख देता तेरे कर!

सब के सुख-दुख में न रहूँ मैं
सदा रहूँ तेरे ही पास,
प्राण-सिन्धु में कूद न पड़ता
प्राण छोड़ते लगता त्रास!

———

९३

जो तुम करते कार्य, नहीं क्या
उस में मुझे लगाओगे,
काम, काज के दिन निज हाथों
मुझको नहीं जगाओगे ?

विश्व-भवन के उठने, गिरने
और बिगड़ने, बनने में,
साथ-साथ परिचय हो जाए
साथ तुम्हारे रहने में !

सोचा था निर्जन छाया में
होता आवागमन नहीं,
साँझ समय हम-तुम दोनों ही
मिल लेंगे सुख-साथ वहीं !

अन्धकार में एकाकी मिलना
है केवल स्वप्न - समान
मुझे बुलाओ मेले में, खुल—
जहाँ चले आदान-प्रदान !

९४

विश्व-संग मिलकर करते विहार हो, वहीं
साथ तुम्हारे संयोग-योग हमारा कहीं !
वन नहीं, विजन नहीं,
स्वकीय एक मन नहीं,
विश्व के स्वकीय हो
जहाँ, मदीय हो वहीं।
बाँह फैलती जहाँ
समस्त लोक के लिये
जग सके वहीं मदीय
प्रेम, प्रभो, लीजिये !
प्रेम कब छिपे उदीर्ण
हो प्रकाश - सा विकीर्ण,
जो समस्त लोक-हर्ष, हर्ष हमारा वही !

९५

लो पुकार है, पुकार के बुला मुझे
शान्त, स्निग्ध, पावन निज अन्धकार में,
शुचि अन्धकार में!
दिन का लघु दुख, थकान
देती जीवन महान,
सारे क्षण मन के शत-शत विकार में
मुक्त करो, मुक्त करो,
मुक्त, हे प्रभो,
नीरव, घन निज उदार अन्धकार में
अपार अन्धकार में!
निशि में वाणी-विहीन
बाह्य हो बहिर्विलीन,
प्राण, दिखा दो अखण्ड रूप प्यार में,
अहे, वृहत् प्रसार में!

९६

रे, जहाँ हो रहो लूट भुवन में तेरी
किस भाँति जायगी वहीं चेतना मेरी !

सोने के घट में दिनकर और सितारे
ले लेकर जाते हैं प्रकाश की धारें,

अगणित प्राणों की लगती नभ में फेरी
किस भाँति जायगी वहीं चेतना मेरी !

है बिछी आसनी जहाँ दान की तेरी
किस भाँति जायगी वहीं चेतना मेरी !

नित नूतन रस में, देव, निरन्तर ढलकर
अपने को देते मिला स्वयं ही गलकर

क्या वहाँ पुकार न होगी जीवन में, री !
किस भाँति जायगी वहीं चेतना मेरी !

९७

विकसित करते फूल—सदृश तुम गान हमारा—
तुम हे, मेरे नाथ, यही तो दान तुम्हारा!
उसी फूल को देख
हर्ष से मैं भर जाता।
अपना कह उपहार
तुम्हें मैं देने जाता।
तुम निज कर से उसे प्रेम से हँस ले लेते,
करुणाकर हे, रख लेते अभिमान हमारा!
फिर यदि उसके बाद
विगत पूजा होने पर
झड़ जाते वे गान
धरा के रज के मिलकर
तो कुछ भी क्षति नहीं
तुम्हारे कर—सम्पुट से
नित कितने धन सदा
टूटते औ' हैं लुटते,
वे क्षण भर को मेरे जीवन में हैं खिलते,
वही करें चिरकाल सफल मम जीवन-धारा।

—

६८

किए रहूँगी आँखें तेरी ओर—
सफल करो यह इच्छा, प्राण-विभोर !
तुम्हें देखना, केवल तुम्हें निरखना,
केवल अपना हृदय भुलाए रखना।
सकल दुःख, सारी आकाङ्क्षाओं में
दिन के सारे कामों में, चितचोर !
विविध कामनाएं छूतीं दिशि छोर,
एक कामना प्राणों में दो जोड़,
वही कामना अनुनिशि अन्तर मांगे,
प्रभो, वेदना एक हृदय की जागे,
दिन पर दिन आनन्द गान में जिससे
बँध जाएँ, एक प्रेम की डोर।

———

६६

फिर से आता आषाढ़ गगन में छाकर
आती वर्षा की सुरभि वायु को पाकर
अब वही पुरातन हृदय प्राण, यह फिर से
रे पुलक-कम्पमय हुआ आज नव सिर से,
इस नए मेघ की नई घटा को लखकर !
फिर से आता आषाढ़ गगन में छाकर !
रह रह करके विस्तृत खेतों के ऊपर
बादल की छाया पड़ती नव तृण दल पर।
"आता है आता" यही प्राण कहते हैं,
"आता है आता" यही गान कहते हैं,
नयनों में आता, मन में आता धा कर।
फिर से आता आषाढ़ गगन में छाकर ॥

१००

देख रहा, मानव वर्षा का
रूप आज धारण करता है।
चलता है गर्जन-तर्जन ले
अन्धकार सर्जन करता है!
प्राणों में भीमा का नर्तन
करता सीमा का परिवर्तन,
छाती से छाती टकराकर
मेघ-नाद भीषण करता है!
देख रहा, मानव वर्षा का
रूप आज धारण करता है।
किस सुदूर अज्ञात देश में,—
चला आज दल-बद्ध वेश में,
किस विशाल पर्वत के तल में
बरस पड़ेगा श्रावण-जल में,
जाने, इसके घटाटोप में
कौन नाश नर्तन करता है!
देख रहा, मानव वर्षा का
रूप आज धारण करता है!

———

झञ्झा-रव ईशान कोण से
धीरे कहता गहरी बातें,
रे, दिगन्त में कैसी भावी
तम में रचती गहरी घातें;
क्या करने पर तुली हुई है
श्याम कल्पना, नहीं पता है!
देख रहा मानव वर्षा का
रूप आज धारण करता है!

१०१

भर प्राणों में कौन सुधा हे देव, करोगे पान!
इन आँखों से अखिल लोक-छवि
चाह रहे देखना, विश्व—कवि,
मम श्रवणों से मौन चाहते सुनना अपना गान।
भर प्राणों में कौन सुधा हे देव, करोगे पान!
मेरे मन में सृष्टि तुम्हारी
रच देती भाषा अनजानी,
प्रेम तुम्हारा उस में मिलकर
करता उसे गीत की वाणी
अपना ही मधु-रस लेते हो मुझ में कर निज-दान।
भर प्राणों में कौन सुधा तुम किया चाहते पान!

१०२

यह जीवन की साध हमारी,
ब्रह्मानन्द महान् गान में जगे मनोमलहारी।
तेरा व्योम विशाल और
आलोक—राशि की धारा,
देख द्वार मेरा यह छोटा लौट न जायँ मुरारी!
छः ऋतुएँ निज सहज नृत्य में
आवें हृदय—विहारी,
मेरा हृदय नित्य नूतनता साजे मङ्गलकारी;
तेरा ही आनन्द, प्रभो, मम
अङ्ग अङ्ग में, मन में—
बस जाए निर्बाध, न कोई हो बन्धन भयकारी।
वह आनन्द अपार दुःख में
पुण्यालोक जगावे,
मेरे निखिल कर्म में मिलकर टाले विपदा सारी।
यह जीवन की साध हमारी।

१०३

एकाकी निकली मैं घर से
कर तुम पर अभिसार।
मौन तिमिर में कौन चल
रहा साथ साथ, हे नाथ,
राह छोड़ मैं चली
कि छूटे उसका मेरा साथ;
सोचा, टली विपत्ति,
देखती फिर उसका सञ्चार!
धरा कँपाता चलता है वह
चञ्चलता के साथ,
सब बातों में जोड़ा करता
वह अपनी ही बात;
वह तो मेरा आत्मा ही, प्रभु,
उसे न लाज, विचार,
उसके साथ लाज आती है
जाते तेरे द्वार!

१०४

देख रहा हूँ तुम लोगों की ओर,
सब के बीच मुझे भी दे दो ठौर!
सब के नीचे जो धरती की धूल,
मूल्य नहीं लगता जिसका कुछ भूल!

जहाँ न रेखाओं में भेद-विभाजन,
जहाँ न मानामान-विभेद कठोर!
सब के बीच वहीं दो मुझको ठौर!

जहाँ बाह्य आवरण न रहता शेष,
जहाँ रहे निज परिचय व्यक्त विशेष!
जहाँ न अपनी कोई वस्तु अनूप,
जहाँ सत्य ढक सके न अपना रूप!

वहीं मौन निर्लज्ज दीनता मेरी
लेगी उनका दान अपार बटोर!
सब के बीच मुझे भी देदो ठौर!

१०५

अपने सिर पर अपने को
मैं और न वहन करूँगा ;
अपने घर में दीन-हीन
होकर अब नहीं रहूँगा !
फेंक तुम्हारे ही चरणों पर
भार, चलूँगा अवहेला कर;
चिन्ता कुछ न करूँगा उसकी
उस पर कुछ न कहूँगा !
अपने ही सिर अपने को मैं
और न वहन करूँगा !
मेरी यह वासना जिसे हाँ,
जिसको छू देती है,
क्षण भर में उसके प्रकाश को
तुरत लूट लेती है !
वह अपवित्र यहाँ जो लाती—
निज हाथों, वह मुझे न भाती ;
तेरा प्रेम नहीं है जिसमें
उसे न सहन करूँगा !
अपने ही सिर अपने को मैं
अब क्यों वहन करूँगा !

१०६

जागो, हे मेरे मन,
धीरे - धीरे उन्मन
इस पुनीत तीर्थ में सुखी शरीर कर—
भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर!
यहीं पर खड़े होकर
युगल जोड़कर निज कर
नर-स्वरूप देवों की करूँ वन्दना
पढ़ रहा उदार छन्द
पुलकित, हर्षित अमन्द
उनकी मैं कर रहा अटूट अर्चना!
ध्यान लीन ये भूधर
नदी-माल्य-धृत प्रान्तर
इस पुनीत धरती को देख धीर धर!
भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर!

यहीं आर्य्य और अनार्य्य,
द्रविड़, चीन लीन-कार्य्य,
शक, पठान, हूण, मुगल हुए एक सर !
पश्चिम का खुला द्वार,
लाते सब भेंट-भार,
हिल-मिल लेंगे, न कभी जायँ लौटकर,
भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर !
रण धारा वाहितकर
विजय - गान नादित कर
कलरव को लेकर उन्माद में भरे,—
मरु पथ का भेदन कर
शैल - मार्ग से होकर
जो मनुष्य मात्र यहाँ आकर उतरे,
मुझमें वे सब विलीन
रहते नित समासीन
हमसे कोई न दूर-दूर हो रहे,
उनकी वाणी विचित्र
मुझसे मिलकर, पवित्र
मृदु स्वर में आज स्वीय भाव को कहे !

बाजो, हे रुद्र-वीन,
बाजो-बाजो प्रवीण,
हम से जो घृणा किए खड़े दूर पर,
खोलो तुम जटिल बन्ध,
आवें ये मनुज-वृन्द—
हो खड़े चतुर्दिक् से घेर-घेर कर,—
भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर!
एक दिवस कर्म-लीन
यहीं पर विराम-हीन
ओंकार का महान् नाद था उठा,
हृदय - तन्त्र पर आकर
एक मन्त्र में छाकर
अपनी झङ्कार की पुकार में लुटा!
तप के बल से केवल
एक के अनल में चल—
आहुति दे दी अनेक ने पसार कर;
भेद-भाव को तजकर
चेतन को जाग्रत कर
एक ही विराट हृदय हो गया अजर!

उसी साधना की ही
समाराधना की ही
मख-शाला का विशाल द्वार खोलकर
आकर के इसी ठौर
इसी द्वार, इसी पौर
हिल-मिल लेंगे नत शिर सकल बन्धु-वर,
भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर!
उसी होम-वह्नि-बीच
जलती है आज नीच
दुःख की विशाल लाल देख लो शिखा
होगा उसको अचेत
जलना अन्तर समेत,
यही सत्य अक्षरशः भाग्य में लिखा!
एरे मम मन उन्मन,
बात सुनो यह चेतन—
लज्जा, भय करो शमन, अयश जाय मर,
होगा दुख का बिहान,
जगेगा विशाल-प्राण,
रात गई, जगी जननि नीड़ में प्रवर,

भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर!
चलो आर्य्य औ' अनार्य्य,
हिन्दू औ' मुसलमान,
आओ ईसाई, अंग्रेज बन्धु के समान!
आओ ब्राह्मण-कुमार, सब
से मिल लो उदार,
आओ हे पतित, दूर कर लो अपमान-भार!
माँ का अभिषेक चलो,
मङ्गल-घट को भर लो,
तीर्थ-नीर सब के कर से पुनीत कर!
भारत का जो महान्—
मानव का दिव्य स्थान
इस विशाल सिन्धु के पुनीत तीर पर!

१०७

हैं जहाँ सब से अधम, रे,

दीन से भी दीन,

वहीं तो तेरा चरण शोभित

सभी से निम्न,

वहीं जो सबसे पड़े पीछे

अकिञ्चन, हीन!

जब तुम्हें देता प्रणति मैं मौन,

वह प्रणति मेरी कहीं पर रोक लेता कौन?

चरण जाता झुक जहाँ

अपमान के तल में—

झुक न पाती प्रणति मेरी

रे उसी स्थल में,

जो पड़े पीछे, पड़े नीचे

सभी से दूर

खो दिया सब कुछ जिन्होंने

उन्हीं के दल में!

अहङ्कार पहुँच न पाता तुम जहाँ रहते

रिक्त-भूषण, दैन्य-जर्जर वेष को धरते,

सभी के पीछे जहाँ रे
नीच जन का वास,
खो दिया सर्वस्व जो अब
कुछ न रखते पास!

सखा बन कर हो सखा उस दीन के घर में,
घर बना पाता न वह घर प्रभो, अन्तर में!
सभी के पीछे पड़े, नीचे सकल जग के,
जहाँ रहते नर अशोभन उसी गह्वर में!

१०८

भाग्य - हीन हे देश ,
कर रहे तुम जिनका अपमान
उनके तिरस्कार से होगे
तुम भी उन्हीं - समान !

जो मनुष्य अधिकार
उसे छीनते जिस मानव से तुम हे बिना विचार
सम्मुख रखते खड़ा किन्तु
देते न अङ्क में स्थान
तिरस्कार करने से होगे तुम भी उन्हीं-समान !

तुम मनुष्य के स्पर्शों से
रहकर हे, प्रतिदिन दूर
निश्चित करते घृणा
प्राण के स्वामी से भरपूर !

ब्रह्म करेगा रोष
तुम अकाल के द्वार बैठकर धोओगे निज दोष
साथ सभी के करना होगा
भोजन औ' जल - पान !
तिरस्कार करनेसे होगे तुम भी उन्हीं समान !

अपने आसन से उनको
तुमने है दिया धकेल,
विभव तुम्हारा करता उनके
निर्वासन से खेल!
दलित और हो दीन
तेरे पैरों से वे मानव हुए धूल में लीन!
उसी निम्न स्तर पर आओ
अन्यथा न होगा त्राण!
तिरस्कार करने से होगे तुम भी दीन-समान
जिनको तुम नीचे फेंको
वे नीचे देंगे बाँध,
जिनको तुम नीचे रखते
वे लेंगे बदला साध!
अज्ञान का प्रसार
रखते वहीं छिपाकर जिनको तम के कारागार
तेरे मङ्गल को ढककर
वे रचते घन व्यवधान!
तिरस्कार करने से होगे तुम भी उन्हीं-समान!
शत शताब्दियों से सिर पर
है असम्मान का भार,

पर, नर के नारायण को
देते न प्रणतिमय प्यार !
तब भी नत कर आँख
देख नहीं पाते, किसने तेरी आँखें दी ढाँक,
यहाँ धूल में उतर पड़ा है
दीनों का भगवान् ;
तिरस्कार करने से होगे तुम भी दीन-समान !
नहीं देखते द्वारे
है यम दूत खड़ा चुप चाप,
गया जातिगत अहङ्कार में
अङ्कित कर अभिशाप !
सब की यदि न पुकार
करते हो, अभिमान-मग्न अब भी करते अतिचार—
मृत्यु-समय तुम चिता-भस्म में
होगे एक समान !
तिरस्कार करने से होगे तुम भी दीन-समान !

१०६

छोड़ना नहीं, जकड़े रहना
रे, होगी तेरी जय,
आशा है, तम मिट जाएगा
अब नहीं तनिक भी भय!

पूर्व दिशा का भव्य भाव वह,
देख निबिड़ वन - अन्तराल वह,
जिसके ऊपर आज शुक्र का
होता दिव्य उदय!
अब नहीं तनिक भी भय!

वे तो हैं केवल रे, निशिचर—
अविश्वास जो अपने ऊपर,
संशय, औ' आलस्य, निराशा
होते प्रातः क्षय!

शीघ्र अरे तू बाहर आकर
देख देख सिर को ऊँचाकर,
धीरे धीरे आस्मान
होता है ज्योतिर्मय!
अब नहीं तनिक भी भय!

———

११०

हृदय पूर्ण है मेरा अब
तुम जो भी चाहो वही करो,
इस प्रकार यदि रहो हृदय में
तो बाहर सर्वस्व हरो!
जहाँ पिपासा का अवसान
वहीं पूर्ण कर दो यदि प्राण,
तो मरु-पथ में यदि प्रचण्ड हो
उठे धूप चिन्ता न करो!
नाना भाँति करो जो लीला
उस को मैं करता हूँ प्यार,
देते एक ओर रोदन,
दूसरी ओर दो हर्ष अपार!
जब सोचूँ खोया सब धन—
तुरत अधिक पा जाता मन;
दूर फेंकते यदि अङ्कम से
पुनः उठाकर अङ्क भरो!

१११

इसी से नाम मैं लेता नहीं तेरा, हृदय - वासी,

कि मेरे मुख सुशोभित नाम तेरा हो भला कैसे ?

सभी जब हँस रहे मुझपर विचारूँ तुरत अविनाशी,

भला, इस कण्ठ से प्रभु-नाम मैं सकता सुना कैसे ?

रहूँ तुम से बहुत ही दूर इस कारण मुझे संशय,

कि जिससे जानना यह शेष मत रह जाय प्रभु मुझको—

तुम्हारे नाम - गायन के बहाने दूँ अगर परिचय—

कहीं तो लाज में गड़ना न फिर पड़ जाय प्रभु, मुझको !

सदय होकर बचाओ नाथ, मिथ्या-गर्व से मुझको,—

कि मेरा है उचित जो स्थान रक्खो तुम वहीं मुझको,

सभी की दृष्टि से कर दो प्रभो, तुम अब परे मुझको,

स्वयं निज नत-नयन का दान तुम कर दो सही मुझको !

तुम्हारी ही दया के हेतु यह आराधना मेरी,

न पाये किसी के घर भी प्रतिष्ठा साधना मेरी ;

उसी निज नित्य-नूतन पाप में देता रहूँ फेरी,

उसी बस, धूलि में बैठा लगाऊँ रट प्रभो, तेरी !

११२

अरे, यह कौन कहता है—
मरण जब हाथ धर लेगा
सभी कुछ छोड़ जाएँगे!

लिए जो साथ जीवन के
अरे, वे मृत्यु में सब कुछ
तुम्हारे साथ जाएँगे!

भरे भण्डार में आकर
न खाली जा सकेगा घर,
तुझे जो ग्रहण करने योग्य
उसको ही ग्रहण तू कर!

लिया आवर्जना का भार
जो भारी इकट्ठा कर,
बचेगा तू, उसे यदि नष्ट कर
निज मार्ग पर पग धर!

यहाँ आए धरा पर तो
यहीं निज को सजाएँगे!
चलो नृप-वेश में उस पार
उत्सव-श्री बढ़ाएँगे

११३

सन्ध्या में यम आ पहुंचेगा
जिस दिन तेरे द्वारे
उस दिन क्या उसको देगा रे !
अपने भरे प्राण ये लेकर
रख दूँगा उसके हाथों पर,
खाली हाथ न जाने दूँगा
होगी निर्ममता रे !
जब आएगा यम मम द्वारे !
कितनी शरद् - वसन्ती-रातें,
कितनी सन्ध्या, कितनी प्रातें,
जीवन के घट में कितना रस
नित बरसा करता रे !
कितने फल, फूलों से बोझिल
होता मेरा अन्तर प्रति पल
सुख - दुख के छाया-प्रकाश का
स्पर्श मधुर पाया, रे !
जो कुछ है मेरा सञ्चित धन
इतने दिन का सब आयोजन
अन्तिम दिन यह सब मैं लेकर
उसे सजा दूंगा, रे !
जब आएगा यम मम द्वारे !

११४

दया करके स्वयं लघु बन
कुटी में दीन के आओ!
तुम्हारा मधुर दर्शन-सुख
मिटाये लोचनों के दुख,
धरे बहु रूप जल-स्थल में
तनिक झाँकी दिखा जाओ!
सखा होकर, पिता होकर,
जननि होकर चले आओ!
प्रभो, होकर स्वयं लघु तुम
हृदय मेरा बसा जाओ!
स्वयं क्या हाथ से अपने
चलूं लघु नाथ को करने?
तुम्हें जानूँ, जनाऊँगा इसी विधि
नाथ, बतलाओ?

११५

चरम पूर्णता मेरे जीवन की
आओ जग के तीरे,
मेरे मरण करो कुछ बातें
तुम मुझसे धीरे धीरे।

जीवन भर, तेरी बलिहारी,
रही देखती राह तुम्हारी
तेरे लिए दुःख औ' सुख की
रही भार ढोती ही, रे!
मेरे मरण करो कुछ बातें
तुम मुझसे धीरे धीरे!

जो कुछ हूँ, जो कुछ पाया है,
जो कुछ है मेरी आशा,
सारा प्रेम चला सुनने को
प्रियतम, तेरी ही भाषा;
एक दृष्टि के मृदुल सहारे
मिलन खिलेगा साथ तुम्हारे,
जीवन रख दूँगी चरणों में
सदा के लिए मैं भी, रे!
मेरे मरण, करो कुछ बातें
तुम मुझसे धीरे धीरे!

वर-माला तो गुंथी जा चुकी
मेरे अन्तर के भीतर
हँसमुख कब आओगे नीरव
वर का सुखद वेषधर कर ;
तब न रहेगा यह अपना घर,
मिट जायेगा सब अपना–पर,
विजन निशा में तब पतिव्रता
पति के साथ मिलेगी , रे !
मेरे मरण करो कुछ बात
तुम मुझ से धीरे धीरे !

१२६

राही हूँ,—

रोक न सकता कोई मुझको रे धरकर।

मिटेंगे सुख-दुख के बन्धन,

न बाँध सकेगा स्वीय सदन,

विषय का भार रोकता पैर

छूट जाएगा यह खुलकर।

राही हूँ,—

गाता गीत प्राण के चलता मैं पथ पर।

खुलेंगे देह दुर्ग के द्वार,

छिन्न वासना—कड़ी दुर्वार,

काट सब बुरा-भला, उस पार

रहूँगा चलता लोकान्तर।

राही हूँ,—

जो है भार दूर हो जाएगा सत्वर।

बुलाता कहीं दूर अम्बर

मूक अद्भुत गाने गाकर,

खींचता प्राणों को अनवरत,

न जाने किस वंशी का स्वर!

राही हूँ ,—

जाने , किस प्रभात में निकला मैं बाहर!

न थे तब कहीं विहग के गान ,

कहीं था सखे, सु-दूर विहान ,

जगी थीं अन्धकार के पार

किसी की आँखें चिन्तापर ।

राही हूँ ,—

किस सन्ध्या में पहुँचूँगा अजान किस घर !

कौन तारिका जलाए दीप ?

पवन रोवे किस कुसुम समीप ?

वहाँ अज्ञात काल से कौन

राह देखता स्नेह—कातर !

———

११७

उड़ती ध्वजा है अरी, अभ्रभेदी रथ पर
वे ही आज बाहर हुए हैं, देख, पथ पर!
आ री, शीघ्र खींचनी पड़ेगी
तुझे रस्सी,
घर के पड़ी है किस कोने में
विभोर - सी

जन के समूह में चली जा चट कूदकर,
जैसे हो बना ले स्थान उनमें, न कुछ डर!
बोल तुझे कौन यहाँ
पड़ा गृह - काज है,
भूलना पड़ेगा सब,
शुभ दिन आज है!

खींच, चल खींच तू
लगा के तन, मन को,
खींच, छोड़ आज तुच्छ—
प्राण - प्रलोभन को,

खींच चल छाया औ' प्रकाश की डगर पर,
—चल री, नगर, ग्राम, वन, पर्वत पर!

झनझन रव कर
चक्र यह घूमता,
सुनती क्या उर में
उसी की विह्वलता !

काँपते नहीं हैं उर बीच
तव प्राण क्या ?
गाता नहीं उर है
मरणजित् गान क्या ?

प्लावन - समान अभिलाषा तेरी वेग भर ?
दौड़ती नहीं रे क्या भविष्यत् के पथ पर ?

११८

भजन, ध्यान साधन, जप फेंक रे, कहीं
रुद्ध - द्वार मन्दिर में
बैठा क्यों आ इस में ?
छिपकर तू मन ही मन
किसका करता पूजन ?
आँख खोल देख, यहाँ देवता नहीं !
चले गए उन्हीं सङ्ग
खेतों में भर उमङ्ग ,—
श्रम की है लगी होड़ !
करते जो श्रम पथ पर
अपने रे जीवन भर ,
पत्थर जो रहे तोड़ !
वर्षा या धूप तपे
साथ वे सदा सब के,
उनके भी हाथ आज धूल से भरे !
होकर उनके समान
तज दे शुचि वस्त्र - ज्ञान ,
आता क्यों नहीं आज, धूल से डरे !

मुक्ति ? कहाँ मुक्ति मिले ?
यह तो छलना निकले !
कर्ता जो अग - जग के
साथ वे बँधे सब के !
डाली रख भरी फूल,
फटें वस्त्र, लगे धूल,
व्यर्थ ही भला क्यों यह ध्यान तू धरे !
सीख अरे, कर्म्म - योग,
प्रभु से तू कर संयोग,
दिव्य भाल से श्रम के विन्दु झर पड़ें !

११६

सीमा में तुम असीम भरते निज स्वर,
मुझ में तेरा प्रकाश तभी हृदय - हर!
अमित वर्ण, अमित गन्ध,
अमित गान, अमित छन्द,
लीलागत जाग्रत ये करते अन्तर!
मुझमें तेरा स्वरूप शोभित मनहर!
तेरे ही मिलन - समय
भेद सब खुले,
विश्व - सिन्धु की तरङ्ग
सङ्ग हो हिले!
तब प्रकाश गत - छाया
मुझ में पाता काया,
अश्रु - सलिल में मेरे है वही सुघर,
मुझ में शोभा तेरी रे, परम मधुर!

———

१२०

इसी से तो तेरा आनन्द
हमारे जीवन में भरपूर,
इसी से आते मेरे पास
नहीं रहते हो मुझसे दूर!
न होता यदि मैं, त्रिभुवन नाथ,
न पाता प्रेम कहीं आधार,
इसी कारण तुम मेरे लिए
रचा करते सुखमय संसार!
अहे राजाधिराज, इस हेतु
नित्य नव धरते मनहर वेश,
कि मेरा यह अन्तर अनजान
बंधे उस मधु सुषमा के देश!
इसी से प्रेम तुम्हारा देव
मिल गया भक्त प्रेम के साथ;
युगल मिल गए जहाँ हो एक,
वहीं हो पूर्ण प्रकाशित, नाथ!

१२१

सखे, यह मान का आसन
शयन सुख का नहीं तेरे,
सभी तज आज तू चल दे
डगर पर मस्त हँसते रे!

चलो मिल मित्र, तुम सब अब
चलेंगे साथ हिल-मिलकर
हमारी आज की यात्रा
रुकेगी दीन के घर पर!

अयश भूषण बनेंगे,
हार काँटों का सजाऊँगा,
सखे, अपमान जो मिलते
उन्हें सिर पर चढ़ाऊँगा!

दुखी के ध्वस्त घर पर चल
चढ़ाऊँ धूल मस्तक पर,
पड़ा यह त्याग का जो पात्र
लूँ आनन्द-रस भर कर!

१२२

प्रभु - गृह से आया जब वीरों का दल
कहाँ था छिपा उनका वह अपार बल ?
कहाँ वर्म, कहाँ अस्त्र,
दीन, हीन यत्र तत्र
घेर शर - प्रहार ने किया उन्हें विकल,
प्रभु - गृह से आया जब वीर - धीर - दल !
प्रभु - गृह से लौटा जब वीरों का दल
उस दिन फिर छिपा कहाँ वह अपार बल ?
धनुष, बाण और कृपाण
गिर गए कहाँ ?
शान्ति - पूर्ण हास का
विकास था वहाँ ;
चले गए रखकर सब जीवन का फल,
प्रभु - गृह को लौटा जब वीरों का दल !
धनुष, बाण और कृपाण
गिर गए कहाँ ?
शान्ति - पूर्ण हास का
विकास था वहाँ ;
चले गए रखकर सब जीवन का फल,
प्रभु - गृह को लौटा जब वीरों का दल !

———

१२३

सोचा था कि कार्य पूर्ण हो गया, सखे, अशेष,
सोचा था कि अधिक नहीं यात्रा का और क्लेश!
यहीं पथ - छोर है
न और कहीं चलना,
सम्बल जो कुछ था
न आज और मिलना,
जान पड़ता था जाना होगा अन्तराल में
जीर्ण - शीर्ण जीवन में छिन्न औ' मलिन - वेश
किन्तु देखता कि
अन्तहीन तव लीला
रचती नवीनता
सदैव अप्रमीला
बात ज्यों पुरातन
समाप्त हुई मुख पर,
चट नव गीत से
उमड़ चला अन्तर!
पथ जो पुरातन न शेष था जहाँ वहीं—
पहुँचा दिया मुझे नवीन किसी दूर देश।

१२४

अलङ्कार सब छोड़ रहा है

हे प्रभुवर, यह मेरा गीत,

तेरे सम्मुख अहङ्कार यह

होता शोभित नहीं प्रतीत!

अलङ्कार ये मिलने में

व्यवधान डालते बारम्बार,

तेरी बात न सुनने देती

उनकी सतत मुखर झङ्कार!

सम्मुख तेरे मेरे कवि का

टिकता नहीं व्यर्थ अभिमान,

महाकवे, तेरे चरणों में

करना चाहूँ जीवन-दान!

इस जीवन की सरल बाँसुरी

यदि गढ़कर कर लूँ तैयार,

तो अपने स्वर से भर देना

इसके सारे छिद्र, उदार!

१२५

निन्दा, दुख, अपमानों से
कितना ही पाता हूँ आघात
तब भी यही समझता, इसमें
हानि नहीं कुछ भी नवजात!

बैठा हुआ धूलि में भी
सोचता न आसन की मैं बात,
निःसङ्कोच दीनता में चाहता
तुम्हारा विमल प्रसाद!

जब सब करते अच्छी बातें,
जब सुख से रहता हूँ, नाथ,
मन में यही सोचता—
इस में छिपे अनेक व्यंग्य के घात!

इन व्यंग्यों को लिए शीश पर
घूम रहा मैं चारों ओर,
पास तुम्हारे आऊँगा, पर
हाथ न आता समय कठोर!

१२६

नृप का वेश बनाकर मा,
तुम साज रही जिस बालक को,
पहनाती हो नित्य-प्रति तुम
मणि-रत्नों का हार जिसे

उसका सब आनन्द खेल का
जननि, धूल में मिल जाता
वस्त्र और भूषण सब तन के
हो उठते हैं भार उसे!

डरता कपड़े फट जाएँगे,
कीचड़ सङ्ग लिपट जाएँगे,—
इसी लिए वह बचकर सब से
रखता है अपने को दूर,

जब-जब बढ़ते पैर
रोकती यहीभावना है सबसे!

नृप का वेश बनाकर मा,
तुम साज रही जिस बालक को—
पहनाती हो तुम नित्य-प्रति
मणि रत्नों का हार जिसे!

क्या होगा इस भाँति
नृपति का वेश सजाने से, माता
क्या होगा इस भांति रत्न-मणि का
पड़ हार सजाने से?—
यदि तुम खोलो द्वार
दौड़कर जाए उस पथपर बालक—
धूप, हवा, कीचड़, मिट्टी
ये जहाँ पड़ें हर कोने से,
जहाँ निखिल मानव आ मिलते
भाँति-भाँति के खेल खेलते,
दशों दिशाएँ अगणित स्वर में
गातीं जहाँ महा-सङ्गीत—
रोक दिया जाता है यदि वह
सब में घुल-मिल जाने से
नृप का वेष बनाकर माँ,
तुम साज रही जिस बालक को,
पहनाती हो तुम नित्य-प्रति
मणि-रत्नों का हार जिसे!

१२७

पतले, मोटे दो तारों में
हो गई जड़ित जीवन-वीणा,
इस लिए नहीं बरसाती है
मधुमय स्वर में यह रस भीना !

बस, इस बेसुरी जटिलता में
हैं प्राण निरत व्याकुलता में,
रे विवश रागिनी बार-बार
रुकती मेरी सावन - हीना !

बज पाती नहीं ठीक स्वर में
अब मेरी यह जीवन-वीणा !

इस कठिन व्यथा को किसी भाँति
मैं सहन नहीं कर पाता हूँ,
अब तेरी सभा-बीच आते
मैं लज्जा में गड़ जाता हूँ !

तेरे बैठे गुणवान् जहाँ
बैठता न उनके पास वहाँ,
रहता हूँ खड़ा द्वार पर मैं
सब के पीछे ले मन सूना !

बज पाती नहीं ठीक स्वर में
अब मेरी यह जीवन-वीणा !

१२८

देने के योग्य न दान,
और गाने के योग्य न गाना!
मन की मन में ही रही
न कुछ कर पाया,
तुम को तो केवल धोका ही
दे आया,
जीवन को पूर्ण बनानेवाली पूजा
कब होगी पूर्ण, न अब तक मैंने जाना!
औरों की सेवा करूँ,
प्राण-पण से मैं अर्घ्य चढ़ाता
झूठी-सच्ची कहता, फिर मैं
अपने ही पकड़ा जाता!
तुम से कुछ भी तो कभी
न छिप सकता है,
इससे ही इतना साहस
पूजा का है,
जो कुछ है उसको ही
चरणों पर रखने
ये दीन प्राण आए
तज भेद पुराना!

१२६

इसीलिए मैं जग में आया,
मुझ में तेरी लीला होगी!
द्वार खुलेंगे सब इस घर के,
होंगे नष्ट शत्रु अन्तर के,
हे आनन्द-सिन्धु, इस भव में
नहीं बचेगा जो कुछ पाया,
मर कर अमर बनूँगा जब
तब मुझ में तेरी लीला होगी!
रुक जाएँगी सब इच्छाएँ
ज्यों ही प्रेम तुम्हारा पाएँ,
दुख सुखमय विचित्र जीवन में
तुम्हें छोड़ क्या वस्तु बचेगी!

१३०

जीवन में ये दुःस्वप्न विघ्न बन
किस प्रकार करते प्रवेश,
रो पड़ूं जागकर देखूँ तो
उनका न गोद में चिह्न शेष!

मेरी शङ्का थी और कहीं
इस लिए हृदय था भय-विह्वल,
पर हँसता तुम्हें देख' समझा—
तुमने ही मुझे किया चञ्चल!

यह जीवन नित व्याकुल रहता—
लेकर सुख-दुखमय भारी भय,
तज उसे और कुछ शेष नहीं,
मानों वह है मेरा समुदय!

आँखों का तम मिट जाएगा
बालातप ज्योंही आएगा,
हे पूर्ण, अब तुम्हारे सम्मुख
उद्वेग न कुछ रह पाएगा!

१३१

मैं सदा खोजता रहा तुम्हें
जीवन भर गानों के द्वारा,
रे घर-घर, द्वार-द्वार गानों से
ढूँढा भू-मण्डल सारा!

जो सीखा उनसे ही सीखा,
रे छिपे मार्ग दिखलाए हैं,
हाँ, हृदय गगन के तारों के
उन सब ने ज्ञान कराए हैं!

दुख, सुख के मधुमय देशों में
ले भेद-सृष्टि के बीच मुझे,
सन्ध्या के समय लिवा लाए
अनजाने घर में खींच मुझे!

१३२

जीवन की इति तक भी
समाप्त होगा न तुम्हारा अन्वेषण ।
पाऊँगा जब-जब जीवन को
आँखें मचलेंगी दर्शन को
उस नव प्रकाश में हो नवीन
लूँगा मिलाप का हार पहन !
जीवन की इति तक भी समाप्त
होगा न तुम्हारा अन्वेषण
हो तुम अनन्त इसलिए नित्य
नव लीला का करते सर्जन,
जाने फिर कौन वेश में तुम
पथ में पकड़ोगे हाथ, प्रमन !
प्राणों में फिर घिर आएगा
नूतन भावों का तिमिर गहन ,
जीवन की इति तक भी समाप्त
होगा न तुम्हारा अन्वेषण !

१३३

मिलने दो सब आनन्द रागिनी होकर
अन्तिम गायन के मेरे मधुमय स्वर में।

पाकर रे जो आनन्द मृण्मयी धरती
तरु, लता, घास में हर्ष प्रकट है करती,
पाकर रे जो आनन्द युगल पागल-से
ये जन्म-मरण घूमते सृष्टि-गह्वर में
है, मिले वही आनन्द गीत के स्वर में!

झञ्झा का वेश बनाकर जो है आता,
निज अट्टहास से सोए प्राण जगाता,
रे, वही हर्ष जो अश्रु-परिप्लुत बैठा—
दुख के रक्तिम शतदल पर शान्त दिखाता,
हर एक वस्तु को फेंक धूल में अपनी
जो मौन सदा रहता मानव-अन्तर में,
रे, मिले वही आनन्द गीत के स्वर में।

१३४

आगे पीछे जब मुझे बाँध देते हो
सोचता कि मैं अब नहीं छूट पाऊंगा,
जब मुझे फेंक देते हो तुम अति नीचे
सोचता कि मैं अब नहीं खड़ा होऊँगा।
फिर कर देते तुम मुझे मुक्त बन्धन से,
फिर मुझे उठाते हो तम पुलकित मन से,
इस भाँति भुजाओं के झूले में केवल
हे, मुझे झुलाते हो तुम चिर जीवन से!
भय देकर तन्द्रा दूर किया करते हो,
जाग्रत कर भय को चूर किया करते हो,
प्राणों में होकर प्रकट पुनः छिप जाते,
करके हताश विश्वास दिया करते हो!

१३७

जब तक तू है शिशु-सा निबल

तब तक रह हृदय—सदन में !

खाकर बस , थोड़ी चोट गिरेगा भू पर ,

सह नहीं सके लघु कष्ट पड़े यदि ऊपर ,

होगा मलीन यदि धूल लगेगी तन में ।

तब तक रहना है तुझको हृदय सदन में ।

हो जाएगी जब शक्ति, प्राण जागेंगे ,

रे अग्नि-पूर्ण वे सुधा प्राप्त कर लेंगे ,

तब जाना बाहर दौड़ , लोटना भूपर

तू मुक्त रहेगा रहकर भी बन्धन में;

तब तक रहना है तुझको हृदय-सदन में,

———

१३६

यह चित्त कब हमारा रे नित्य सत्य होगा—
हे सत्य, वह सुदिन कब फिर पूर्ण सत्य होगा!
जप सत्य, सत्य निशि-दिन,
कर बुद्धि का समर्पण,
लूँगा विचर जगत् में
तजकर ससीम बन्धन,
हे सत्य, देख लूँगा कब पूर्ण ज्योति तेरी!
मैं तो असत्य ही की करता अटूट फेरी!
करता अकाण्ड ताण्डव मैं
नित्य भूत—भव में,
धोकर कलुष मिलूँ मैं
किस भाँति नाथ, तुम में!
हे सत्य सत्य होकर
निज को बचा सकूँगा
तुम में विलीन होकर
मैं मृत्यु जीत लूँगा!

१३७

तुमको अपना स्वामी समझूँ
बस, इतना ही शेष रहे।
तुमको ही सब ओर निहारूँ,
अपना सब कुछ तुम पर वारूँ,
निशि-दिन तेरा प्रेम सवारूँ–
इच्छा यही विशेष रहे!
रहो तुम्हीं मम प्रभुवर हे!
तुमको कहीं न नाथ, छिपाऊँ,
केवल इतना शेष रहे!
होनी लीला मुझ में निर्भर–
इससे मुझको रखते धरकर,
नाथ, रहूँगा भुज-बन्धन में–
केवल इतना शेष रहे!

१३८

इतना दे दिया मुझे—
यदि मैं अब मर जाऊँ तो खेद नहीं।

दुख, सुख में रे, मेरे भीतर
बाजते न जाने, कितने स्वर,
घर में छिप विविध वेश धरकर
हर लेते मन बहुरूप तुम्हीं!

तुम मिले न अब तक प्राणों को,
पूरा न किया अरमानों को,
जो पाया भाग्य उसे मानूँ,
जो दिया स्पर्श, मैं पहचानूँ,
तुम हो, बस इतना मैं जानूँ
अवलम्बन की बस, नाव यही!
मर जाऊँ तो अब खेद नहीं!

१३६

सुनता ओ नाविक,

नाविक मेरी मानव-जन्म-तरी का,

दूर पार से आता जो स्वर

मधुर मधुर वंशी का!

क्या तरी तुम्हारी सन्ध्या को

ठहरेगी नदी किनारे,

क्या सान्ध्य—तिमिर में

वहाँ दिखाई देंगे दीपक सारे!

मन्द मधुर बह रहा समीरण

मन में यह आता है,—

किसका हास पार से

तम को इधर बहा लाता है!

आते समय फूल कुछ

लाए थे हां, मैं ने चुनकर,

उनमें जो हों नए

सजा दे उनको इस अवसर पर।

१४०

मन का औ' काया का,

चाहूँ मैं एक साथ इनका सम्मिलन, भ्रात,

इस काली छाया का !

अग्नि में करूँ निपात,

सागर में सलिलसात्,

चरणों में गलितगात

नाश करूँ माया का,—

मन का औ' काया का !

जहाँ चलूँ वहाँ एक—

आसन आसीन देख'

लज्जित हूँ, हरो सत्व

निविड़ घोर छाया का।

मन का औ' काया का !

मेरा अनुभाव जहाँ

बाधा होगी न वहाँ,

पूर्ण एक को विलोक

सकोगे वहाँ विशोक

नाश करो माया का

मन का औ' काया का !

१४१

निज नाम से ढकता जिसे
वह विकल कारागार में !
सब भूलकर मैं हूँ निरत
दिन-रात इस व्यापार में ,
मैं हूँ बढ़ाता नाम को
आकाश तक संसार में ;
पर सत्य ढकता जा रहा
इस तिमिर के विस्तार में !
मैं धूलि पर रख धूलि को
निज नाम करता उच्च हूँ ,
छूटे नहीं लघु छिद्र तक ,
मैं भित्ति रखता स्वच्छ हूँ !
अविराम मिथ्या का करूँ
मैं यत्न जितनी युक्ति से ,
है दूर उतनी हो रही
मम आत्म-सत्ता दृष्टि से !

१४२

हमारा नाम जब मिट जायगा
मैं बच सकूँगा मुक्त हो, प्रभुवर,
स्व-निर्मित स्वप्न से नूतन
तुम्हीं में जन्म धारण कर !

मिटा तब हाथ की लेखा,
मिटा निज नाम की रेखा,
अरे, कब तक कटेगा और
जीवन कष्ट को सहकर !

हरण कर और के भूषण
सजाना चाहता अपने,
सकल स्वर को दबाकर
गीत गाना चाहता अपने !

मिटा निज नाम जब पाऊँ—
तुम्हारा नाम तब गाऊँ,
सभी के साथ मिल जाऊँ
बिना ही नाम परिचय कर !

१४३

जड़ा हुआ जिन बाधाओं से
उन्हें छोड़ते दुख पाता,
मुक्ति - काम मैं जाता तुम तक
किन्तु माँगते शरमाता!

जानूँ, तुम्हीं श्रेयतम जग में
नहीं अन्य धन तेरे तुल्य,
किन्तु, फेंक पाता न उन्हें
जो सजे साज घर में बहुमूल्य!

धूलि, मरण इन युगल आवरण ने
ढक रक्खा देव, तुम्हें,
करता घृणा प्राण-पण से, पर
फिर भी करता प्यार इन्हें!

कितना ऋण, उपहास अपरिमित,
घनी विफलता, महती लाज,
फिर भी निज लाभार्थ चलूँ तो
भय की उर पर गिरती गाज!

१४४

तेरी दया नहीं भी यदि
चाहता हृदय हो,
तो भी प्रभो, कृपाकर
निज चरण में लगाना!

जो कुछ मिटा-बना कर
आनन्द में रहूँ भर,
सुख की उपासना में
करता हूँ निरन्तर—

उस धूलिमय भवन में
रखना न मसि-सदन में,
करके कृपा अनल के
तुम शैल से जगाना।

यदि सत्य ढक गया हो,
भ्रम में न दीखता हो,
हे नाथ, तुम कृपा कर
भ्रम को तुरत मिटाना!

हे, मृत्यु नष्ट करके
पीयूष - वृष्टि करके
इस रिक्त पात्र को तुम
आपूर्ण कर दिखाना!

जब दुःख, वेदना हो
जागर्ति, चेतना हो,
जग का विरोध हो तब
तुम शान्ति को बुलाना!

१४५

आराधना हमारी सब पूर्ण हो न पाई,
मैं जानता इसे, पर दुख की न बात, भाई!
जो फूल खिल न पाया,
सरिता वन-स्थली में
खो स्वत्व बढ़ न पाई,
मैं जानता इसे, पर दुख की न बात, भाई!
आजन्म आज तक जो
पीछे पड़े हुए हैं,
है दुख न क्लेश,—
कुछ तो वे भी बढ़े हुए हैं!
मेरा, प्रभो, अनागत—
मेरा, प्रभो, अनाहत—
लेकर त्वदीय वीणा
बजती पड़ी दिखाई,
मैं जानता इसे, पर
दुख की न बात, भाई!

१४६

एक नमस्कार प्रभो,

एक नमस्कार में—

सकल देह लुण्ठित हो तेरे संसार में !

वारिद ज्यों सावन के

तेरे रस-भार झुके,

एक नमस्कार प्रभो,

एक नमस्कार में—

त्यों ही तव द्वार पर

मन समस्त विनत रहे

भक्ति की पुकार में !

विकल स्वरों का प्रवाह

एक हो चले अथाह

एक नमस्कार प्रभो,

एक नमस्कार में,

गान हों विलीन

शान्ति की समुद्र-धारमें !

मानस को ज्यों मराल
त्योंही निशि-दिवस टाल,

एक नमस्कार प्रभो,
एक नमस्कार में

प्राण उड़ चलें समस्त
महामरण-पार में।

१४७

जीवन में जिसका आभास नित मिले,
जो न प्रात-रश्मि के प्रकाश में खिले,

शेष निज दान में
शेष निज गान में

चरणों में दूँगा रख देव, हाथ ले।
जो न प्रात-रश्मि के प्रकाश में खिले।

बात कर समाप्त उसे
बाँध नहीं सकती,

गायन की शक्ति
स्वर साध नहीं सकती!

शान्ति-कुञ्ज में अनूप
मोहन नवीन रूप

मौन लोक-दृष्टि से परे सदा पले!
जो न प्रात रश्मि के प्रकाश में खिले!

भ्रान्त हूँ उसी के साथ
देश - देश घूमता,

जीवन का बुरा-भला
कभी उसे चूमता!

सब भाव-काज में—

निखिल समाज में—

नींद, स्वप्न में सदैव एक-सा चले!

जो न प्रात-रश्मि के प्रकाश में खिले!

कर साक्षात् उसे

जीवन में बार-बार—

व्यर्थ मूड़ मार

सभी लोग छोड़ गए द्वार!

अन्य नहीं जानते,

तुम पहचानते,

प्राण अहे, एक इसी आस में ढले!

जो न प्रात-रश्मिके प्रकाश में खिले!

१४८

नित्य विरोध नहीं सह सकती हूँ

मैं अधिक तुम्हारे साथ,

पुञ्जीभूत हो रहा दिन-दिन ऋण

अपार तेरा, हे नाथ!

सभ्य वेष में आकर कितने चले गए

कर तुम्हें प्रणाम,

मलिन-वेश हूँ, इससे छिपकर

छिपा रही हूँ अपना नाम!

हृदय मूक हो गया, वेदना कैसे

प्रकट करूँगी, नाथ!

साहस नहीं हृदय में, कैसे

बात करूँ मैं तेरे साथ!

लौटाना मत, कर दो इसको अब

अपमान - सिन्धु के पार,

निज चरणों का इसे बना लो क्रीत-दास,

हे करुणागार

———

१४६

करूँ प्रेम को आत्म-समर्पण,—
बैठा हूँ मैं सोच यही,
हुआ दोष यह मुझसे भारी
हुई देर हाँ, बहुत सही!
विधि-विधान की कठिन हथकड़ी
लेकर वे धरने आए,
सह लूँगा सब दण्ड शान्ति से
प्रेम मुझे बस, मिल जाए!
मेरी निन्दा करते हैं सब,
निन्दा किन्तु असत्य नहीं
सह लूँगा सब निन्दा सुख से
सब के नीचे बैठ वहीं!
बीता अवसर, आज रुक गया
मेले का सब क्रय-विक्रय,
मुझे बुलाने वाले लौटे
होकर क्रुद्ध, दिखाकर भय!
दूँगा हाथ प्रेम को,
इससे बैठा हूँ होकर निर्भय!

१५०

जो मुझे प्रेम करते जग में—
उनका है कठिन प्रेम-बन्धन,
पर, तेरा प्रेम बड़ा सबसे
तू रखता सदा मुक्त निज जन!

हाँ, अन्य सभी सोचते कि मैं
जाऊँ न भूल फिर उन्हें कहीं,
इस लिए किसी भी भाँति मुझे
छोड़ते अकेले कभी नहीं!

पर दिन पर दिन हैं बीत रहे
तुम नहीं दिखाई पड़ते हो,
मैं तुम्हें बुलाऊँ या न बुलाऊँ
शान्त सदा तुम रहते हो!

मेरे मन में जो कुछ आए
वह मन की करता रहता है,
पर, मेरी राह सदा तेरा
वह प्रेम देखता रहता है।

१५१

कब प्रेम-दूत को भेजोगे
यह द्वन्द्व हमारा छूटेगा !
घरवालों के शासन का सब
यह बन्ध हमारा टूटेगा !

दुर्दान्त हृदय मेरा विजयी होकर
सब को लौटा देता,
यदि प्रेम तुम्हारा आता तो
बन्धन से मुझे छुड़ा लेता !

उसके आने पर कौन मुझे
घर के भीतर रख पावेगा,
उसकी पुकार पर मेरा भी तो
शब्द कान में आवेगा !

आये वह चला अकेला
पहने हुए गले में सुमन-हार,
वह माला से जब बाँधेगा
रह जाएगा उर मौन धार !

१५२

गान गवाए तुमने मुझसे
कितने छल से हे,
कितने सुख से औ' कितने ही
अश्रु-सलिल से हे!

आकर के भी हाथ न आते,
आकर पास दूर हट जाते,
पल-पल में प्रज्वलित करो
तुम प्राण अनल से हे!

कितने तीव्र तार से अपनी
बीन सजाते हो,
शत छिद्रों के जीवन से
बाँसुरी बजाते हो!

तव स्वर की लीला से मेरा
यदि सारा जीवन है घेरा
तो नीरव कर दो अब इसको
करुणा-बल से हे!

गान गवाए तुमने मुझसे
कितने छल से हे!

१५३

सोचा, हुआ समाप्त किन्तु यह
पड़ा हुआ है शेष अभी,
तेरी परिषद् से आया है
एक नया आदेश अभी!

नूतन गीत, नवीन राग से
हृदय पुनः हो उठा नवीन,
स्वर के पथ से कहाँ चलूँ अब
कोई भी उद्देश कहीं न!

सन्ध्या-समय स्वर्ण आभा में
देव, मिलाकर अपनी तान,
पूर्वी में लाकर कर देता
मैं समाप्त जब अपना गान—

अर्द्धरात्रि के गहरे स्वर से
जीवन होता पूर्ण विशेष,
तब मेरे नयनों में रहता
नहीं नींद का किञ्चित् लेश!

१५४

ले लेने पर पूर्ण
पूर्ण ही पुनः शेष रह जाता है,
गा लेने पर गान
यही प्रतिपल विचार मन आता है !
स्वर रुक गया
किन्तु वह जैसे कभी न रुकना चाह रहा,
नीरवता में बजती वीणा
व्यर्थ कौन स्वर थाह रहा !
तारों पर आघात
लगे वे बज उठते मधुमय स्वर में,
सब से जो महान्
हे गायन, चुप रहता छिप अम्बर में !
आलापों के रुक जाने पर
शान्त बीन पर आ जाता,
सन्ध्या-सा दिनान्त में
वीणा के तारों पर छा जाता !

१५५

दिवस यदि हुआ समाप्त, विहग-स्वर कहीं न व्याप्त :
थकित वायु का प्रवाह - वेग रुक गया,
तो मुझे भली प्रकार ढक दो हे कृपागार,
निबिड़ घोर अन्धकार से, करो दया !
क्रमशः सङ्कोपन में स्वप्न से प्रभो,
ढकते धरणी को जिस भाँति हे विभो !
जैसे तुमने प्रति पल रख कर दल ऊपर दल
रजनी के शतदल को शान्त ढक लिया ;
जिसके है बीच पन्थ सम्बल का हुआ अन्त
मुख पर जिसके विषाद - रेख खिंच उठी,
फटे रे, वसन नवीन धूल में हुए मलीन
शक्ति सब अधीर अङ्ग अङ्ग की लुटी !
ढक दो उस दीन राहगीर की व्यथा,
हो समाप्त जीवन की सब करुण - कथा,
जिस प्रकार उषा-काल पुष्प खिलाते, कृपाल,
जिसकी सब व्यथा अन्धकार में मिटी !

१५६

नदी पार का यह जो आषाढ़ी प्रभात,
रख ले मेरे मन, प्राणों में अपने हठात् !
हरे, नील में स्वर्ण घोल कर
बरसा दी जो सुधा धरा पर,
जाग्रत किया गगन-तल में वाणी-प्रपात !
रख ले मेरे मन प्राणों में अपने हठात् !
इस चलते' पथ में भव के तट पर—
युग-कूलों के विकच पुष्प का सञ्चय कर !
भाग्य मान प्रति दिवस यत्न कर
उन्हें चेतना में अपनी वर,—
अरे गूँथना मेरे मन, तू दिवस-रात !
रख ले मेरे मन, प्राणों में अपने हठात् !

१५७

जाते जाते मेरे मुख से
निकले अन्तिम बात यही—
देख लिया जो मैंने उसकी
तुलना जग में नहीं कहीं!

ज्योति सिन्धु के वक्षस्थल पर
खिला हुआ जो शतदल सुन्दर—
उसके मधु का पान कर लिया,
इससे मैं हूँ धन्य सही!

जाते समय बता मैं जाऊँ
प्रभुवर, केवल बात यही!

विश्व - रूप के क्रीड़ा-गृह में
मैंने कितने खेले खेल,
उस अरूप का दर्शन पाया
मैंने अपनी आँखें खोल!

जिसका स्पर्श न हो जीवन में
वह आया भुज के बन्धन में,
मेरा यहीं अन्त कर दें तो
करने दो, कुछ क्लेश नहीं!

जाते समय बता मैं जाऊँ
प्रभुवर, केवल बात यही!

१५८

मेरा अन्तिम यही निवेदन—
सबल करों से दुर्बलता का
मेरी कर दो छेदन !

मुझे शक्ति दो सुख में
मेरा रहे अचञ्चल अन्तर,

दुख की करूँ उपेक्षा, प्रभुवर,
झेलूँ उसको हँसकर,

अहे, भक्ति के बल से खिलता रहे
प्रेम मम प्रति क्षण !

बल दो कभी न करूँ उपेक्षा
दीन, हीन सज्जन की,

होऊँ कभी न नत - मस्तक मैं
शक्ति देख दुर्जन की,

प्रति दिन की लघुता से
उन्नत रक्खूँ नित अपना मन !

मुझे शक्ति दो, हे मेरे
युग-युग के जीवन-सहचर,
तेरे चरणों में मैं नितप्रति
अपना मस्तक रखकर
स्थिर रख सकूँ प्रेम को अपने
मन में, हे मनमोहन!

१५६

तुमने मुझे अनन्त बनाया
करुणा कर' हे करुणागार,
स्वयं हर्ष से प्रेरित होकर
जीवन देते मुझे अपार!

बार बार इस सुघर पात्र को
तुम ही रिक्त किया करते,
फिर उज्ज्वलतर नव जीवन से
इसको तुम प्रभुवर, भरते।

यही बाँस की क्षुद्र बाँसुरी
दरियों और पर्वतों पर
ले जा' फूँक दिया छिद्रों से
इसके तुमने गीत अमर!

तेरे कर के अमर स्पर्श से
होता उर का हर्ष अपार,
अमर उक्ति का मेरे उर से
होता नित्य नया अवतार!

मेरे इन लघु हाथों पर तुम
धर देते अनन्त उपहार,
युग-युग से भरते हो फिर भी
इसमें है अवकाश अपार!

१६०

होऊँगा मैं खड़ा प्रति दिवस
तेरे सम्मुख, जीवन - नाथ,
नित्य सामने खड़ा रहूँगा
अपने युगल जोड़ कर हाथ !

विजन विरल में, तेरे इस
अपार नभ - मण्डल के तल में
नम्र हृदय, आँखों में जल ले
खड़ा रहूँगा पग-तल में !

तेरी इस विचित्र संसृति में
कर्म - सिन्धु के पार कहीं,
निखिल-जगत-जन-बीच प्रभो, मैं
खड़ा मिलूँगा सम्मुख ही !

तेरे इस भव में जब मेरा
कार्य पूर्ण हो जाएगा,
हे राजेश्वर, मौन अकेला
सम्मुख यह जन आएगा !

१६१

मृत्यु - दूत को मेरे घर के
द्वार आज है भेज दिया,
ले इसने सन्देश तुम्हारा
अगम सिन्धु को पार किया!

आज तिमिर में भींगी रजनी
हृदय भयाकुल है मेरा,
दीप हाथ ले, द्वार खोल
कह दूँगी उस से भीतर आ!
मृत्यु - दूत को मेरे घर के
द्वार आज है भेज दिया!

हाथ जोड़ नयनों में जल ले
उसका पूजन कर लूँगी,
पूजन कर मैं तुरत प्राण - धन
चरणों में हे, रख दूँगी!

पालन कर आदेश तुम्हारा
जाएगा वह करके मेरा—
प्रात तिमिरमय, देखोगे तब
निज को तुम को भेंट किया!
मृत्यु - दूत को मेरे घर के
द्वार आज है भेज दिया!

१६२

वैराग्य - साधन में मिले जो
मुक्ति वह मेरी नहीं,
जग - प्रेम-बन्धन में मिलेगी
मुक्ति रे मेरी सही !

इस भूमि के मृत्पात्र में
बहु वर्ण-गन्धों की सुधा
भर बार - बार उदार कर से
ढालता तू सर्वदा !

मम बत्तियों से अखिल जग
शत - शत प्रदीपों को जला,
तव ज्योति से मन्दिर तुम्हारा
पुष्प - सा देगा खिला !

कर रुद्ध इन्द्रिय-द्वार योगासन
नहीं मैं चाहता,
जग - दृश्य, गन्ध, स्पर्श में
आनन्द तव अवगाहता !

रे, मोह मेरा मुक्ति हो
प्रज्वलित होगा हर्ष से,
हाँ प्रेम मेरा भक्ति के फल
लायगा उत्कर्ष से !

१६३

राजेन्द्र, तुम्हारे हाथ काल है
अन्तहीन, सच कहते,
गिन सके कौन आते जाते
दिन, रात बीतते रहते!

ये युग - युगान्तर पुष्प - सदृश
खिल - खिल कर रे मुर्झाते,
है नहीं देर या त्वरा तुम्हें
तुम राह देखते जाते!

तुम एक पुष्प की कली खिलाने
शत - शत वर्ष बिताते,
है नहीं हाथ में समय हमारे,
इससे हम घबराते!

इस हेतु सभी की सेवा में
गत होता काल हमारा,
खाली रह जाता एक मात्र
पूजा का पात्र तुम्हारा!

असमय में दौड़ा आता हूँ
अन्तर में भय की छाया,
पर देख रहा हूँ समय तुम्हारा
अभी नहीं हो पाया!

१६४

दान तुम्हारा मर्त्यवासियों की
कर आवश्यकता पूर्ण,
जाता लौट पास फिर तेरे
घटकर होता नहीं अपूर्ण!
सरिता नित प्रति के कामों में
दौड़ा करती नित्य नवीन,
अन्त समय जल की अञ्जलि-सी
होती तव चरणों में लीन!
धूप गन्ध निज बाँट जगत् में
नहीं कभी चुक जाता है,
'जग-वञ्चक न तुम्हारी पूजा'
सोच चरण में आता है!
कवि रचता रे गीत और
पाठक करते मनमाना अर्थ,
अन्तिम अर्थ देव, तुम तक
जाने में होता सदा समर्थ!

१६५

चित्त जहाँ भयशून्य, उच्च मस्तक नित रहता,
जहाँ ज्ञान निर्मुक्त, न सीमा-बन्धन सहता,
जहाँ भवन की भित्ति रात-दिन निज आँगन में
जग का करे न खण्ड, प्रेम हो प्रतिजन-मन में,
जहाँ सत्य की गहराई से निकले वाणी,
शब्द-शब्द में रहे सत्य की अमिट निशानी,
देश-देश, दिशि-दिशि धाए कर्मों की धारा,
जहाँ पूर्णता में सीमित खो जाय किनारा,
रूढ़ि-रीतियों की विभिन्न रे मरु - मालाएँ
जहाँ विचारों के प्रवाह को निगल न जाएँ,
हीनाचारों से पौरुष शत-खण्ड न होवे,
जहाँ तुम्हीं में मन अपना अपनापन खोवे,
जहाँ कर्म, चिन्तन में तुम पथ-दर्शक आगे
उसी मुक्ति के स्वर्ग-बीच प्रभु, भारत जागे!

१६६

मेरे अङ्ग अङ्ग में तेरा स्पर्श
लीन नित आठों याम,
यही सोच प्राणेश्वर, रखता
निज शरीर पावन अभिराम!
मेरे मानस में रह भरते—
परम ज्ञान हे, विमल विचार,
यही सोचकर अपने मन से
दूर करूं सब मिथ्याचार!
अन्तर में तव निश्चल आसन,
यही सोच कर दूँ निर्मूल
कुटिल द्वेष और सकल अमङ्गल,
खिले प्रेम का निर्मल फूल!
निखिल कर्म में शक्ति तुम्हारी
यही समझ, हे बल-आगार,
सदा करूँगा सब कर्मों में
तेरा ही मैं सतत प्रचार!

१६७

एक साथ ही तुम्हीं नीड़ हो
और तुम्हीं हो बृहदाकाश !
प्रति क्षण नाना गीत, गन्ध से
बाँधो प्राण प्रेम के पाश !

उसी नीड़ में उषा सजाकर दाएँ हाथ
स्व र्ण की थाल
लिए, मधुर माला पहनाने आती
धी रे ज ग के भा ल !

धेनु - हीन खेतों में आती
सन्ध्या विनत विजन-पथ पार,
स्वर्ण-पात्र में शान्ति-सलिल
पश्चिम-समुद्र से भर सुख-सार !

किन्तु जहाँ तुम आत्मा के
सञ्चार-क्षेत्र आकाश अपार,
वहाँ शुभ्र आभास; नहीं दिन, रात,
व र्ण, वाणी - सञ्चार !

१६६

मेरे अङ्ग अङ्ग में तेरा स्पर्श
　लीन नित आठों याम,
　　यही सोच प्राणेश्वर, रखता
　　　निज शरीर पावन अभिराम!
　　　मेरे मानस में रह भरते—
　　परम ज्ञान है, विमल विचार,
　यही सोचकर अपने मन से
दूर करूं सब मिथ्याचार!
अन्तर में तव निश्चल आसन,
　यही सोच कर दूँ निर्मूल
　　कुटिल द्वेष औ' सकल अमङ्गल,
　　　खिले प्रेम का निर्मल फूल!
　　　निखिल कर्म में शक्ति तुम्हारी
　　यही समझ, हे बल-आगार,
　सदा करूँगा सब कर्मों में
तेरा ही मैं सतत प्रचार!

१६६

क्षण भर सुख के लिए

बैठना चाह रहा मैं तेरे पास ;

फिर मैं कर लूँगा कामों को

जो करने हैं बिना प्रयास !

तुम से रहकर दूर हृदय को

मिलता नहीं तनिक विश्राम,

कार्यों के अकूल जलनिधि में

हो जाता अनन्त मम काम !

मधु - ऋतु आई है खिड़की पर

लेकर मर्मर औ' उच्छ्वास ;

भ्रमर-पुञ्ज का कुसुम - कुञ्ज में

छाया गुञ्जन औ' उल्लास !

तेरे सम्मुख आज बैठने का

बस, यह है शुभ अवसर,

इस मधुमय अवकाश काल में

जीवन रख दूँ चरणों पर !

१७०

दो चार दिवस का प्रश्न नहीं,
है दूर बहुत मेरी मंजिल!

रे प्रथम रश्मि के रथ पर मैं
निकला जग के निर्जन पथ पर,
मैं छोड़ रहा पद-चिह्नों को
ग्रह औ' नक्षत्रों के ऊपर!

ले जाता सबसे दूर मुझे
है वही निकटतम पथ तुमसे,
लय साधारणतम सिखलाती
रे वही कठिन शिक्षा सब से।

निज घर जाने के हेतु पथिक
अज्ञात द्वार सारे जाने,
मन—मन्दिर पाने के पहले
वह सारी जगती को छाने।

युग आँखें करलीं बन्द देव,
हाँ, इनके खूब भटकने पर,
फिर कहा, कहो-मेरे प्रियतम,
हो यहीं कहीं! उर के भीतर!

रे, प्रश्न और आह्वान 'कहाँ'
शत शत आँसू-धारामें चल,
निश्चित 'मैं हूँ' की वन्या में
लो, डुबा चले जगती-मण्डल।

मेरा गन्तव्य स्थान बहुत दूर है, एक या दो दिनों में वहाँ नहीं जाया जा सकता।

सूर्य की पहली किरण के रथ पर बैठ कर मैं सूनी राह से चला। ग्रहों और नक्षत्रों पर मेरे पैरों के निशान छूट रहे हैं।

जिस रास्ते चलकर हम दुनियां से दूर चले जाते हैं वही सबसे छोटा रास्ता है जो मुझे तुम्हारे पास शीघ्र पहुंचा देता है।

अपना सच्चा घर खोजते खोजते मैंने सबका परिचय पा लिया। आँखों के थक जाने पर इन्हें बन्द किया तो देखा कि तुम मेरे ही भीतर हो। यह जानकर मेरी आँखों से आँसू बरस पड़े।

१७१

उस दिन जब खिला कमल—
दूर रहा मन चञ्चल—
जान मैं सका न हाय, फूल खिल गया,
डाली थी कुसुम—हीन,
कुसुम वृन्त—समासीन,
किन्तु किसी और ठौर ध्यान मिल गया।

कभी कभी अब अजान
होता रे दुख महान्
स्वप्न छिन्न–भिन्न आज दूर हो चला;
दक्षिण का मलय पवन
कर रहा प्रमत्त गमन
उसमें आभास मधुर सुरभि का मिला।

अस्फुट वह मधुर गन्ध
आकर उर में आनन्द
कामनामयी मनोज्ञ टीस भर रही,
मन में यह जगा भाव,—
ग्रीष्म की उसास चाव—
सहित स्वीय पूर्णता तलाश कर रही।

हुआ हाय, तब न ज्ञात
इतने था निकट प्रात,
और यह कि मेरी ही वस्तु वह रही ;
माधुरी वही अशेष ,—
जान मैं सका न लेश
मेरे ही हृदय बीच थी खिली सही।

१७२

छोड़ूँ नाव आज मझधारे !
व्यर्थ समय यह बीत रहा है बैठे सिन्धु—किनारे !
कुण्ठित कर जग को वसन्त ने
ले ली कभी बिदाई,
मुर्झाए फूलों को ले मैं
मौन खड़ा क्यों भाई ?
कल्लोलित हो उठीं तरङ्गें मन उन्मत्त हुआ रे !
तट की छायादार गली में
पीले पत्ते गिरते
तीव्र पवन में गिर-गिर कर के
मर्मर के स्वर भरते,
शून्य दृष्टि किस सूनेपन को पागल देख रहा रे !
तुझको नहीं पता समीर में
आज कम्प भर आया,
आज पार का गीत सुनहला
लहरों पर है छाया,
छोड़ शून्य का अञ्चल चल लहरों पर हर्षाया रे !

१७३

आज निशा की अलस पलक में

अपनी सारी क्लान्ति मिटाने

तुम पर सब विश्वास छोड़ दे,

निद्रा को दो अङ्क लगाने।

आज सभी उत्साह शिथिल है

आज जोर मत दो इस जन को,

आज न कर पाऊँगा कुछ भी

तेरी पूजा और भजन को।

दिन की थकी पुतलियों पर तुम

लाते रजनी का अवगुण्ठन,

जाग्रति का नव हर्ष दान कर

तुम्हीं दृष्टि को करते नूतन।

आज सोने को ही जी चाहता है। आज पूजा और भजन कुछ नहीं हो सकता। रात के आराम के बाद पुतलियाँ नई हो जायेंगी।

१७४

"बन्दी, बोलो किस ने तुम को
है बन्धन में डाला?"

"मेरे ही स्वामी ने"
बन्दी बोल उठा मतवाला!

"मैंने सोचा, सकल जगत् को
धन—बल औ' जन—बल में
कर सकता हूँ अतिक्रमण मैं,
जग के समर-स्थल में!

राजा के ही कारण मैंने
निज भाण्डार भरा था,
और सो गया नृप—शय्या पर
निद्रा में मदमाता!

किन्तु नींद जब टूटी मेरी
मैं ने आँखें खोलीं,
निज भाण्डार-बीच हाथों की
हथकड़ियाँ त्यों बोलीं!"

"बन्दी, कहो बनाईं किस ने
ये अटूट हथकड़ियाँ ?"
"मैं ने" उसने कहा -"लगन से
गढ़ीं लौह की लड़ियाँ !
सोचा था, रे शक्ति हमारी
जग को वश कर लेगी,
मेरी आज़ादी की कलिका
अब निर्बाध खिलेगी !
इस प्रकार दिन—रात व्यस्त रह
अग्नि — ज्वाल धधकाकर
मार हथौड़े की चोटें
रख दी जंज़ीर बनाकर !
कार्य हो गया पूर्ण और
जब सब कड़ियाँ बन पाईं,
देखा, उन कड़ियों ने दी
मेरी ही बाँध कलाई !

१७५

रहने दो इतना शेष कि मैं
कह सकूँ तुम्हें सब कुछ अपना,
इतनी ही शेष रहे इच्छा
समझूँ, प्रभु है सब ओर बना।
प्रत्येक वस्तु में मैं तुम तक
आ सकूँ, कामना है मेरी,
मेरा यह प्रेम करे प्रतिक्षण
तेरे ही चरणों की फेरी।
इतना ही मेरा शेष रहे
जिससे मैं तुम्हें छिपा न सकूँ;
इतने बन्धन हों शेष कि मैं
तेरी इच्छा ठुकरा न सकूँ।
इस जीवन में तेरी इच्छा
हो पूर्ण, यही अभिलाषा है,
तेरे ही अहे, प्रेम—बन्धन में
हृदय सदा बँधना चाहे।

कवि अपने जीवन को ईश्वरमय बना देने की कामना करता है।

———

१७६

छाया में छिप सब से पीछे
कहाँ खड़े हो, प्राणाधार ?
वे ठुकराकर तुम्हें बढ़ रहे
धूलि—मार्ग पर बिना विचार !

कब की भेंट लिए मैं व्याकुल
देख रही हूँ तेरी राह,
क्रमशः मेरे फूल उठाकर
चल देते वे बे—पर्वाह !

खाली अब हो चली हमारी
डाली फूलों की, हे नाथ,
लो, पश्चिम को सूर्य चल पड़े
गया प्रभात छोड़कर साथ !

सान्ध्य—काल मेरी पलकें
भारी हो उठीं नींद के भार,
घर जाते जन मुझ पर हँसकर
करते लज्जित प्राणाधार !

दीन भिखारिन- सी बैठी हू
मुँह पर अपने घूँघट डाल,
वे जब मुझे पूछते, नीचे
आँखें कर लेती तत्काल!

सचमुच, हाय, किस तरह कह दूँ
देख रही हूँ प्रिय की राह!
और उन्होंने वचन दिया है
आने का मुझ को सोत्साह।

कैसे कहूँ दीनता मेरी
है मेरा जीवन—धन, प्राण।
आह, हृदय के अन्तराल में
रखती हूँ इसका अभिमान।

बैठी हुई घास पर, हे प्रिय,
देख रही हूँ मैं आकाश,
स्वप्न देखती, तुम आते हो
समारोह कर भर उल्लास!

एक साथ ही दीप जल उठे,
रथ पर स्वर्ण-ध्वज का लास,
रथ से उतर बिठाया मुझ को
उठा धूलि से अपने पास!

लाज, गर्व से काँप उठी मैं
दीन बालिका प्रेमाधार!
ग्रीष्म-काल के मन्द पवन में
जैसे मृदुल लता साभार!

ऐसा दृश्य देखकर सम्मुख
अद्भुत सुन्दर प्रेम-मिलाप,
सड़क छोड़ वे एक ओर सब
विस्मित खड़े हुए चुपचाप!

किन्तु समय बीतता
न सुनती हूँ रथ-चक्रोंकी आवाज;
कितने ही जुलूस जाते हैं
सजकर निज वैभव का साज!

सब के पीछे छिपे रहोगे
केवल तुम चुप और उदास,
और अकेली भग्न-हृदय मैं
रोती रहूँ व्यर्थ ले आस ?

हे प्रभो, सब लोगोंसे पीछे मेरी दृष्टि से छिपे हुए तुम कहाँ हो ! मैं तुम्हारे लिए फूलों की भेंट लाई हूँ, किन्तु तुम्हारे न आने के कारण ये लोग ही एक-एक फूल लेकर चल देते हैं ! सुबह से शाम हुई मेरी फूलों की डाली खाली हो गयी है। थक कर मैं निद्रित हो गई। सपने में मैं क्या देखती हूँ। तुम रथ पर आए, सोने की पताका चमक उठी। तुमने मुझे धूल से उठाकर अपने पास बिठा लिया। मैं लाज से गड़ गई। लोग यह दृश्य देख कर रास्ते से हट गए। स्वप्न टूटने पर सब दृश्य गायब हो गया।

हे जीवन-धन, सबसे पीछे उदार, कब तक छिपे रहोगे और मेरी आशाएँ हृदयके साथ ही चूर होती रहेंगी।

———

१७७

एक दिन था, जब तेरे लिए
नहीं थी उत्सुकता उर बीच,
अपरिचित-से अनजाने, देव,
चले आए मन-मन्दिर में!

और निज अमर चिह्न, हे प्राण,
अनगिनत जीवन के क्षण पर,
छोड़कर चले गए चुपचाप
मुझे अनजाने ही तजकर!

और यह आज अचानक, देव,
पड़ा प्रकाश उन पर,
देखता उन सब पर अङ्कित
तुम्हारे ही सुन्दर अक्षर!

विगत मेरे कितने सुख-दुःख
देव, बिखरे साधारणतर
धूलि की ढेरी में अनजान
उन्हीं में वे तेरे अक्षर!

धूलि की मम क्रीड़ा, निदान
देव, जा सके न ठुकराकर,
आज सुनता हूँ तारों में
वही ध्वनि चापों की मनहर!

एक दिन जब मेरे मन में तुम्हारे लिए कोई ख़ास उत्सुकता नहीं थी। तुम अनजाने-से आगए और मेरे जीवन-कणों पर अपना अमिट निशान छोड़ गए। ज्यों-ज्यों दिन बीतता है—वे अक्षर स्पष्ट होते जा रहे हैं। तुम मेरे निकट आते जा रहे हो।

आखिर तुम मुझे ठुकरा न सके, मैं आज तुम्हारे पैरों की आवाज तारों में उठती हुई सुनती हूँ।

१७८

मुझे तब मिलता हर्ष अपार !
देखती रहती पथ की ओर
जहाँ छाया-प्रकाश की होड़,
ग्रीष्म के यौवन में बरसात जमाती जब अपना अधिकार !
मुझे तब मिलता हर्ष अपार !

दूत छाया पथ से अनजान
नए सन्देशों को लेकर
मुझे कर विनयावनत प्रणाम,
तुरत जब बढ़ जाता पथ पर,
पवन के सुरभित श्वास अधीर अरे, कर जाते अन्तर पार !
मुझे तब मिलता हर्ष अपार !

उषा से सन्ध्या तक हे प्राण,
रहूँ बैठी घर के बाहर,
जानती आवेगा चुपचाप
हर्ष का क्षण पथ से होकर,
उसे मैं देखूँगी भर आँख, यही उठते हैं प्राण पुकार।
मुझे तब मिलता हर्ष अपार !

इसी अन्तर हँसती, गाती
अकेली होकर भाव-विभोर,
इसी क्षण उठकर वायु-तरङ्ग
छू चली मेरे अन्तर-छोर,
पवन के सौरभ में इस काल हो रहा आशा का सञ्चार!
यही तो मेरा हर्ष अपार!

१७६

ढल चली राह देखते रात व्यर्थ ही आशा में उनके !

डर रही, हो न कहीं ऐसा—

अचानक आवे प्रातःकाल ,

जब कि मैं थकी और हारी

नींद में पड़ी रहूँ बेहाल ,

छोड़ देना सखि, उनकी राह, रोकना मत बाधा बन के !

न होवे यदि समर्थ है सखी ,

जगाने में प्रिय की पद चाप ,

यत्न तब मत कुछ भी करना

जगाने का तुम अपने आप ,

नहीं मैं जगना चाहूँ सखी, गान सुनकर पंछी गन के !

प्रात-रवि के स्वागत में सखी ,

घूमता जब उन्मत्त समीर ,

नहीं उसके उत्पातों से

छेड़ना मत यदि स्वामी भी द्वार पर आवें इस जन के !

नींद हा, मेरी प्यारी सखी,
प्राण-प्रिय मेरी सुखमय नींद,
चाहती जो उनका मृदु स्पर्श
खड़े जब होंगे प्रिय सामने
सखी री, फैला स्मिति-आलोक,
चीरकर ज्यों निद्रा की तमी
स्वप्न हँस पड़ता विमल, विशोक,
खुलेंगी आँखों की पलकें आयगी जब वह छन छन के!
दृष्टि पथ में होकर आए
प्रथम रचना औ' प्रथम प्रकाश,
देखकर उसे जगे वह हर्ष
भरे जो जाग्रत आत्माकाश!
और निज का पाना मुड़ जाय चरण में उस जीवन-धन के!

१८०

प्रात के शान्ति-सिन्धु में उठीं
लहरियाँ खग-रव की चहुँ ओर
फूल थे खिले हुए सुकुमार
मार्ग के छान्कर दोनों ओर

बिखरती स्वर्ण-राशि अनमोल
चतुर्दिक् मेघ-खण्ड के पार,
किन्तु हम चले गए चुपचाप
नहीं देखा यह विभव अपार!

न गाए मधुर हर्ष के गान,
नहीं खेलों में उलझे भूल,
और करने आदान-प्रदान
नहीं कुचली गाँवों की धूल।

मार्ग में किया न कहीं विलम्ब,
बोलना, हँसना भी था बन्द,
समय के साथ हमारे पैंग
रहे बढ़ते पथ पर स्वच्छन्द।

आगया दिनकर सिर पर ठीक,
कूजते छायाऽऽसीन कपोत,
नाचते भू पर बिखरे पात
गर्म लू का पाकर खर स्रोत!

बाल-चरवाहे बट की छाँव
कर रहे स्वप्न-लोक की सैर,
तीर जल के मैं भी पड़ गया
घास पर फैलाए हारे पैर!

देखकर मुझ पर साथी लोग
हँस पड़े सभी घृणा के साथ,
गर्व से सिर ऊँचा कर तुरत
चल पड़े पथ पर पुलकित-गात।

कभी पीछे देखा तक नहीं,
किया भी नहीं कहीं विश्राम,
दूर नीलाभ क्षितिज के बीच
छिप गए वे चलकर अविराम!

पार कर हरे भरे मैदान,
और कितने ही शैल-प्रदेश
छोड़ते पीछे चित्र-विचित्र
मनोहारी परियों के देश!

वीरवर हे साहस के पुञ्ज,
परम दृढ़ हे अनन्त के पान्थ,
धन्य हो, तुम सचमुच ही धन्य,
ध्येय से हो न सके उद्भ्रान्त।

हृदय ने कर मेरा उपहास
उठाना चाहा अन्तर वेध,
किन्तु होकर नितान्त असमर्थ
कर दिया मैंने मौन निषेध।

हर्ष की धुँधली छाया तले
दीनता की गहराई-बीच
खो दिया निज को भाव-विभोर
भूल का रे अवगुण्ठन खींच!

क्रमागत सूर्य्य-रश्मि-संवलित
हरी धुँधली छाया ने, देव,
ढँक लिया मेरा अन्तर्देश
छिपाकर प्राणों का अहमेव !

हुआ विस्मृत यात्रा का लक्ष्य,
और मन ने फिर बिना विरोध
कर दिया आत्म-समर्पण, गीत
और छाया पर मुग्ध प्रमोद !

अन्त में टूटी मेरी नींद
और मैंने दीं आँखें खोल,
देखता, पास खड़े तुम रहे
नींद में अपनी मधु स्मिति घोल !

आह, कितना था मैं भयभीत
कि पथ है तेरा दूर, अपार,
और तुम तक जाने का, देव,
नहीं है साधारण व्यापार !

१८१

गया था भीख माँगने आज
ग्राम-पथ से चलकर प्रतिद्वार,
स्वर्ण-स्यन्दन तेरा अति भव्य
निकल आया त्यों स्वप्नाकार !

दूर से देख अलौकिक यान
हुआ उर विस्मय से आक्रान्त,
और जिज्ञासा जगी सवेग
कौन यह राजेश्वर सम्भ्रान्त !

हृदय की आशाएँ खिल उठीं,
कहा, दुख के दिन बीते जीर्ण,
दान-हित खड़ा रहा चुप और
द्रव्य लेने सब ओर विकीर्ण !

रुका रथ आकर मेरे पास,
पड़ी मुझ पर ज्यों तेरी दृष्टि,
पड़े रथ से तुम उतर तुरन्त
आह, करते मधुमय स्मिति-वृष्टि !

लगा मुझ को यह अन्तिम समय—
खुल गया मेरा भाग्य अजान,
बढ़ा तुमने ज्यों दाँया हाथ
कहा—"क्या मुझे दे रहे दान ?"

आह, कितना महान् परिहास
कि भिक्षुक-सम्मुख फैले हाथ,
और मैं किं-कर्त्तव्य-विमूढ़
खड़ा था चुप दुविधे के साथ !

और तब झोली से अति क्षीण
अन्न का दाना एक निकाल,
हथेली पर तेरी हे देव,
साथ सङ्कोच दिया था डाल !

किन्तु टूटा विस्मय का बाँध
देखकर सन्ध्या को यह हाल—
उँडेली ज्यों झोली पा गया
स्वर्ण का लघु दाना तत्काल !

विलख मैं उठा, उठे ये भाव—
मिला क्यों मुझे न हृदय विशाल
कि मैं दे देता तुम को दीन
भीख का निज सर्वस्व निकाल !

१८९

भींगी निशा; काम दिन भर के
पूरे हुए हमारे।
हमने सोचा, अतिथि रात का
है आ चुका यहाँ रे!

धीरे धीरे द्वार बन्द हो गए
गाँव के सारे,
जाने किसने कहा कि स्वामी
आए नहीं हमारे!

हँसकर हमने कहा—
"नहीं यह कभी नहीं हो सकता!"
ऐसा लगा रात में,
धक्का है द्वारे पर लगता!

हम ने कहा, नहीं यह कुछ
है अरे वायु का झोंका;
दीप बुझाकर हम सब सोए।
(नहीं किसी ने रोका!)

जाने किसने कहा कि, यह है
अग्र दूत राजा का !"
हँसकर हमने कहा, "नहीं,
यह झोंका मात्र हवा का !"

अर्द्ध रात्रि की नीरवता में
ध्वनि कुछ पड़ी सुनाई,
सोते सोते सोचा हमने
बिजली की ध्वनि आई !

हिली धरा, डोलीं दीवारें,
पड़ी नींद में बाधा,
जाने किसने कहा, शब्द यह
रथ चक्रों ही का था !

बोल उठे हम तन्द्रिल स्वर में,
"होगा मेघ गरजता !"
अभी तमोमय निशा—
सुनाई पड़ा ढिंढोरा बजता !

आई ध्वनि कानों में—
"जागो करो न देर !"
सहारे—
कर के उर को दबा कँप उठे
हम सब भय के मारे !

जाने किसने कहा, "देख लो
राज-ध्वजा फहराती !"
होकर खड़े कहा हमने—
"अब नहीं देर दिखलाती !"

आए राजा, किन्तु कहाँ हैं
दीपक और मालाएँ ?
सिंहासन है कहाँ कि जिसपर
हम उनको बिठलाएँ ?

लज्जा में गड़ गए
कहाँ है भवन, सजावट सारी ?
जाने किसने कहा, "व्यर्थ है
यह व्याकुलता सारी !

रिक्त-हस्त कर नमस्कार
सूने घर में अपने
महाराज को ले जाओ,
भूलो पहले के सपने !"

खोलो द्वार, शङ्ख बजने दो ;
घनी निशा-पथ गामी
शून्य, तमोमय घर के आए
आज हमारे स्वामी !

वज्र-नाद हो उठा गगन में
कम्पित हुआ अँधेरा,
फटी चटाई का टुकड़ा ला
(क्या तेरा क्या मेरा !)

उसे बिछा दे आँगन में
अरे, प्रिय के अनुगामी,
डरावनी रजनी के आए
आज हमारे स्वामी !

१८३

सोचा, माँगू मैं गुलाब का हार
गले में जो तेरे,
पर, ऐसा करने का साहस
जगा नहीं उर में मेरे!

विदा हुए जब प्रात, तब तलक
रही प्रतीक्षा ही करती,
पा जाऊँ कुछ दल शय्या पर
मन में आस यही रहती!

दीन भिखारिन के समान
ढूँढ़ा मैंने उस ऊषा काल
पा जाऊँ दो एक पत्तियाँ
बिखरी कहीं पड़ी तत्काल!

आह, यहाँ क्या पाया मैंने?
कौन प्रेम का यह उपहार?
नहीं फूल या लेप, नहीं
सुरभित-जल-पात्र मिला सुखसार!

सङ्ग यही करवाल तुम्हारी
काटेगी मेरे बन्धन,
नहीं रहेगा भय कुछ मुझको
जगती में, हे जीवन-धन!

छोड़ूँगी मैं भाँति भाँति के
तुच्छ सभी जग के शृङ्गार,
राह हमारी देख न कोई
रोएगा अब, प्राणाधार!

नहीं किसी की लज्जा मुझको,
नहीं मधुरतामय व्यवहार,
वही कृपाण सजाऊँगी मैं
छोड़ूँ गुड़ियों-सा शृङ्गार!

तुम केवल तलवार छोड़कर गए। उसे देखकर मुझे लज्जा हुई। सोचा कोई, शृङ्गार का सामान तो दिया ही नहीं।

किन्तु समय के साथ विचार बदला। मैं सोचती हूँ तुम्हारी तलवार ही मेरे बन्धन काट सकेगी। दिखावटी शृङ्गार बेकार है।

अब मैं तलवार को ही सजाऊँगी।

१८४

कितना सुन्दर केयूर तुम्हारा मोहन
जो सजा मनोहर औ' उज्ज्वल तारों से,
जो नाना वर्णों के रत्नों के द्वारा
है हुआ विनिर्मित कुशल कलाकारों से !

पर, वक्र-ज्योति-मण्डित करवाल तुम्हारी
मुझ को तो लगती उससे भी सुन्दरतर,
सूर्य्यास्त-काल की रक्त-ज्योति में डूबे
फैले ज्यों नभ में पंख गरुड़ के मनहर !

काँपती जो उस निःश्वास-सदृश जीवन के
दुख में होता जब घात मरण का अन्तिम !
जो लिए भयङ्कर कौंध चमक उठती है
ज्यों स्वार्थ-बुद्धि की जलती ज्वाला रक्तिम !

है सुन्दर तव केयूर जड़ा रत्नों से,
पर सुन्दरतम हे इन्द्र, कृपाण तुम्हारी,
देखते हृदय हो जाता परम भयाकुल
सोचते शक्ति खो जाती मन की सारी !

———

१८५

कुछ तुम से पूछा नहीं, नहीं
बतलाया तुमको अपना नाम,
खड़ी रही चुपचाप विदा जब
ली तुम ने मुझ से, अभिराम !

झुकी हुई तरु-छाया में
चुप खड़ी रही कूएँ के पास
अन्य नारियाँ भर मिट्टी के
घड़े गईं अपने आवास !

मुझे उन्होंने कहा जोर से
"चलो चलें बीती सखि, प्रात !"
धुँधले भावों में मैं खोई
खड़ी रही आलस के साथ !

सुनी नहीं पद-चाप तुम्हारी
जब तुम आए थे अज्ञात,
दुःख-पूर्ण नयनों से तुमने
देखा था मुझको उस प्रात !

थकित वाक्य निकला था मुख से—
"बोले, मैं हूँ प्यासा पान्थ,
जाग्रत-स्वप्न त्याग मैं आगे
बढ़ी तुम्हारी ओर अश्रान्त—

और तुम्हारी अञ्जलि में है,
दिया घड़े से पानी ढाल,
सर् सर् ध्वनि कर उठे पेड़ के
पत्ते ऊपर से तत्काल!

छिपी कहीं से तुरत गा उठी
कोयल अपने मादक गान,
औ' बबूल की सुरभि मोड़ से
आई करती सौरभ-दान!

मौन खड़ी रह गई लाज से
तुमने जब पूछा था नाम।
सचमुच, रखते याद मुझे
या किया कौन-सा मैंने काम!

किन्तु तुम्हारी प्यास बुझाने—
हेतु दिया जल, इसकी याद,
सदा सुरक्षित रह अन्तर में
देगी मुझे सतत आह्लाद!

बीत चली अब प्रातः बेला,
हुए विहग के अलसित गान,
मर्मर करें नीम के पत्ते,
बैठी सोचूँ मैं अनजान!

मैं अकेली कुएँ पर थी। तुम प्यासे आये। पानी माँगा। मैंने पिला दिया। किन्तु संकोचवश तुम्हारे पूछने पर भी अपना नाम न बताया। तुम्हारी याद तो सदा बनी रहेगी। पर यह चिन्ता भी नहीं छूटेगी कि तुम्हारा परिचय क्यों न पा लिया।

१८६

अन्तर में है आलस्य, अभी आँखों में नींद तुम्हारे है !

अब तक अनभिज्ञ रहे क्या तुम—
कण्टक पर करता राज्य कुसुम ?
जागो हे जागो, समय व्यर्थ खोने को नहीं तुम्हारे है !

कँकरीले पथ का छोर जहाँ,
है शान्ति-राज्य सब ओर जहाँ,
जागो, हे जागो, करो न छल, मम मित्र वहीं चुप मारे है !

मध्याह्न सूर्य्य की ज्वाला से
कम्पित नभ भरता उच्छ्वासें,
क्या है यदि रेत पिपासा का अपना परिधान पसारे है !

है हर्ष न तव अन्तस्थल में ?
तेरे प्रति पद चारण-तल में
क्या पथ-वीणा न सुनाएगी, जो दुख के गीत तुम्हारे हैं !

१८७

एरे प्रकाश, मेरे प्रकाश,
जग-भरणशील पावन प्रकाश,
मेरे लोचन-चुम्बी प्रकाश,
ओ हृदय-हरण जन मन प्रकाश!

मेरे जीवन के केन्द्र-विन्दु पर
प्रिये, नृत्य-रत यह प्रकाश,
मम प्रेम-बीन के तार प्रिये,
झंकृत करता रह रह प्रकाश!

खुल गया आह, आकाश,
प्रिये, पवमान कर रहा मत्त लास,
पृथ्वी पर चारों ओर आज
होता विकीर्ण रे मधुर हास!

विस्तृत प्रकाश के सागर पर
तितलियाँ रहीं निज पाल खोल,
कर रहीं ज्योति की लहरों पर
कुमुदिनी, मल्लिका मधु-कलोल!

प्रति मेघ-खण्ड में स्वर्ण-रूप हो
प्रिये, आज बिखरा प्रकाश !
यह लुटा रहा है अपरिमेय
उज्ज्वल रत्नों को आस पास !

सुख-हास फैलता पात-पात,
प्रेयसि, असीम आनन्द-लास,
नभ-सरि डुबा चली युगल कूल
सब ओर हर्ष-वन्या-विलास !

नयनों को ज्योतिदान करनेवाला प्रकाश आ गया। हवा चल पड़ी। मेरे हृदय की वीणा झंकृत हो उठी। तितलियाँ नाचने लगीं। बादल प्रकाश में उमड़ उठे। आकाश-गङ्गा दोनों तटों को डुबाती उमड़ चली।

चारों ओर हर्ष की बाढ़ आ गई।

१८८

मेरी नस-नस में दौड़ रही
जो अहोरात्रि जीवन-धारा,
है वही दौड़ती जगती में,
नाचती सन्तुलित गति द्वारा!

तृण के अगणित अंकुर लाता
रे वही हर्ष से भूतल-पर
पुष्पों, पत्रों की लहरों में
फूटता वही जीवन का स्वर!

जो जन्म-मरण के सागर के
पलने में झूला झूल रहा,
आरोह और अवरोहों पर
वह ही जीवन हिल-डोल रहा!

मुझ को कुछ ऐसा लगता है—
जीवन का यही लोक सुखकर
निज मधुर स्पर्श से देता है
मेरे अङ्गों को उज्ज्वल कर!

युग-युग के जीवन-स्पन्दन से
मेरा अपार अभिमान सखे,
मेरी नस-नस में नाच रहा
इस क्षण तक कर मधु-दान, सखे

जो जीवन की धारा मुझमें है, वही संसार भर में व्याप्त है। तिनके, फूल, पत्तों सब में वही जीवन है। वही जीवन-मरण को व्याप्त किए हुए है। यही जीवन का स्पर्श शरीर को उज्ज्वलता प्रदान करता है।

युगों के इस वरदान से मेरा अभिमान मुझे अपार हर्ष देता है।

१८६

शिशु-गण अनन्त लोक-सिन्धु - तीर आ मिलें !
सिर पर तना हुआ अचल असीम व्योम है,
नीचे प्रचण्ड सलिल शान्ति का विलोम है;
करते अपार शोर सभी नाचते चलें !
शिशु-गण अनन्त-लोक-सिन्धु तीर आ मिलें !

रचते स्वकीय गेह वे अनजान रेत से,
वे रिक्त सीप से प्रमुग्ध खेल खेलते,
वे नाव बनाते सभी विदीर्ण पात से,
हँसते हुए अगाध धार बीच बहाते,
बहु लोक-सिन्धु तीर बाल खेल में खिलें।
शिशु-गण अनन्त लोक सिन्धु-तीर आ मिलें।

वे जानते अजान हाय, तैरना नहीं,
निक्षेप जाल का रे सीखा नहीं कहीं,
धीवर अमूल्य रत्न-हेतु डूबते जहां,
निज पोत ले वणिक् समुद्र नापते जहां,
कंकड़ जुटा वहीं समस्त बाल-मण्डली
फिर छींट कर उन्हें स्वकीय पन्थ पर चली;
वे खोजते छिपे निधान को कभी नहीं,
निक्षेप जाल का रे सीखा नहीं कहीं !

रे सिन्धु अट्टहास में हिलोर ले रहा,
तट पीत-प्रभा युक्त स्मिति बिखेर दे रहा !

जिस भांति हिला पालना मा लोरिया गाती
त्यों अर्थ-हीन गीत वीचियाँ हैं सुनाती,

शिशु-सङ्ग सिन्धु हिल-मिल कर खेल कर रहा,
तटपीत प्रभा मुक्त स्मिति बिखेर कर रहा !

व्यापार मृत्यु का लिए लहरें जहाँ चलें ?
शिशु-गण अनन्त लोक-सिन्धु-तीर आ मिलें !

पन्थ हीन व्योम में ये तूफान घूमते,
पद चिह्न-हीन जल में जल-पान डूबते,

सब ओर मृत्यु, किन्तु बाल खेल में झिलें;
रे लोक-सिन्धु-तीर बालमण्डली मिले !

बच्चे संसार-सागर के किनारे मिलते हैं। वे बालू के घर बनाते हैं, पत्तों की छटी नाव को जलमें बहा देते हैं। वे तैरना नहीं जानते। जहाँ बड़े-बड़े व्यापारी बेड़ा लिए जाते हैं, पनडुब्बे मोती निकालते हैं, बच्चे वहीं कंकड़ इकट्ठा कर उन्हें फिर छोड़ देते हैं। समुद्र भी बच्चों के ही समान किलकारियाँ मारता है। तूफान के समय भी बच्चे इसी प्रकार खेलते रहते हैं।

१६०

मद जो कि बच्चों की आँखों पर
आकर छा जाती,
क्या बतला सकता है कोई
उसे, कहाँ से आती?

हाँ, वे कहते, उसी गाँव में
परियों के इसका घर,
जुगनू का धूमिल प्रकाश
जिस वन-छाया में मनहर।

वहीं लटकतीं युगल हर्ष की
लजवन्ती कलिकाएँ;
शिशु-मुख-चुम्बन-हेतु वहीं से
यह नित्य - प्रति आए!

सोए शिशु के अधरों पर
जो स्मिति नर्तन कर जाती,
जन्म कहाँ था लिया,
बता सकता क्या कोई, साथी?

हाँ, वे कहते, बाल-चन्द्र की
बाल किरण जो पीली,
होता हुआ विलीन शरद्-घन छोर
उसी ने छू ली !

ओस-धौत जो प्रात-काल का
स्वप्न मनोज्ञ सलोना
उसके मदिर अङ्क में इसने
जन्म लिया अनहोना !

जब सो जाता शिशु तब
जो अधरों पर आ मँडराती,
जन्म लिया था वहीं, कह रहे
मेरे सारे साथी !

जो प्रिय, मृदु नवीनता
शिशु के अङ्गों में है खिलती,
ज्ञात किसी को है यह
अब तक कहाँ छिपी थी रहती ?

हाँ, जब मा थी तरुणी
तब यह उसका हृदय बिछाकर
मृदुल मूक प्रणयान्तराल में
पड़ी रही सुख पाकर!
जो प्रिय मृदु नवीनता शिशु के
अङ्गों में है खिलती।

१६१

जब रङ्गीन खिलौने लाता
तुमको, हे शिशु मेरे,
तब मैं पाता समझ,
खेल क्यों रङ्गों के घन मेरे!

जल औ' फूलों में चित्रित
क्यों हल्के रङ्ग घनेरे!
जब रङ्गीन खिलौने देता
तुमको हे शिशु मेरे!

तुम्हें नचाने को जब गाकर
गीत मनोज्ञ सुनाता
तब मैं पाता समझ,
पत्र दल क्यों मर्मर-स्वर गाता!

लहरों का समवेत गान क्यों
भू के उर में जाता—
तुम्हें नचाने हेतु मधुर
गीतों को जब मैं गाता।

जब मैं तेरे लुब्ध करों में
मधुर वस्तुएँ देता,
तब मैं पाता समझ,
पुष्प-प्यालों में क्यों मधु होता!

फल क्यों छिपकर अपने में
इतना मधु-रस भर लेता!
जब मैं तेरे लुब्ध करों में
मधुर वस्तुएँ देता!

जब मैं तुम्हें हँसाने' प्यारे,
मुख का चुम्बन करता,
निश्चय जानूँ, प्रात-ज्योति से
क्या आनन्द बरसता !—

ग्रीष्म पवन क्या हर्ष
अङ्ग-अङ्गों में मेरे भरता
जब मैं तुम्हें हँसाने' प्यारे,
मुख का चुम्बन करता !

हे शिशु ! जब मैं तुम्हारे हाथ में अच्छी चीजें रखता हूँ तब उसमें मुझे रंगीन बादलों का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।

तुम्हारे रंगीन खिलौने जल और फूलों के रङ्ग में रंगे दीखते हैं।

तुम्हें नचाने के लिए जो गीत मैं गाता हूँ, वही गीत पत्तों की मर्मर ध्वनि से बरसता है, वही गान लहरों में भी होता है।

पुष्पों का मधु जैसे भौंरा लेता है वैसे ही किसी खाने की चीज का रस तुम लेते हो। फल भी तुम्हारे ही लिए मानो बने हैं।

तुम्हारा चुम्बन सुबह की किरणों सा आनन्ददायी है, वही हर्ष मुझे ग्रीष्म की हवा में भी मिलता है।

मैंने पूछा—"बाले, यह दीप कहाँ ले जा रही हो। व्यर्थ इसे बहाओ नहीं। इससे मेरे घर का अँधेरा दूर हो जायगा।

बोली—मैं तुम्हें क्यों दूँ ! मैं यहाँ दीपोत्सव मनाने आई हूँ।

मैं देखता रहा। उसका दीप, लहरों पर बहते हुए दीपकों में अपना अस्तित्व खो चुका था।

१६२

उस से विजन सरि-तीर
लम्बी घासमें पूछा यही—
"यह दीप अञ्चल में छिपा
वाले, कहाँ हो जा रही?

मेरे विजन घरमें न मिलता
हृदय को आधार है,
दे दो मुझे निज दीप,
छाया अन्धकार अपार है?

क्षण भर मुझे देखा, उठा
गोधूलि में काले नयन,
"सरि पर यहाँ आई"
कहा उसने तुरत ऐसे वचन—

'दिन की प्रभा पश्चिम दिशा में
अस्त जब होगी वहां
यह दीप धारा में उसी क्षण
मैं बहा दूंगी यहाँ!"

उन बड़ी घासों में खड़ा
यह देखता ही मैं रहा,
वह टिमटिमाता दीप
लहरों पर चला जाता बहा !

घन रात्रिकी उस शान्ति में
मैंने पुनः पूछा यही
'बाले, लिए निज दीप फिर
अब हो कहाँ तुम जा रही ?

जल चुके दीपक तुम्हारे,
विजन घर मेरा पड़ा,
दे दो मुझे निज दीप,
देखो, अन्धकार वहाँ बड़ा !"

उसने उठा काले नयन
देखा मुझे, क्षण सोच कर
बोली—"गगन को भेंट करने
दीप आई हूँ इधर !"

मैं भी वहीं रहकर खड़ा
हाँ, देखता निश्चल रहा—
उस शून्य में रे व्यर्थ ही
था दीप उसका जल रहा!

था चन्द्र - हीन निशीथ - तम
मैंने कहा उस से यही—
"रख दीप उर के पास
बाले, खोजने क्या जा रही

मेरे विजन घर में न मिलता
हृदय को आधार है,
दे दो मुझे निज दीप
छाया अन्धकार अपार है

क्षण रुक पुनः कुछ सोच तम में
देख मुझ को ध्यान से
बोली—"यहाँ दीपोत्सव में
दीप लाई मान से

मैं देखता उसको, खड़ा
उस ठौर पर था हो गया
रे व्यर्थ ही लघु दीप उसका
दीपकों में खो गया!

———

१६३

जो मेरी आत्मा के अन्तस्तल में
रहती थी नित लीन,
औ' प्रकाश - धाराओं की
आभा में थी सदैव आसीन ;

प्रात - प्रभा में जिसने अपना
खोला कभी न घूँघट - द्वार ,
विदा - गीत से अवगुण्ठित वह
देव , तुम्हें अन्तिम उपहार !

शब्दों में निज प्रेम जताया ,
पर पाने में हुए हताश ,
बड़ा प्रलोभन ललची बाहें उधर,
हो गया विफल - प्रयास !

उसे हृदय में छिपा छान आया
मैं देश - देश की धूल ,
उसे घेर उत्कर्ष- ह्रास जीवन के
उठे - गिरे आमूल !

मेरे निद्रा, स्वप्न, विचारों,
कर्मों के शासन में लीन
रहती हुई दूर वह सब से
रही अकेली सङ्ग - विहीन !

देव, द्वार पर कितने आए
ले उस के पाने की चाह
चले गए वे लौट यहाँ से
हो कर अपने हत - उत्साह !

कोई नहीं लोक में जिस की
मिटी लोचनों की हो चाह ?
सूनेपन में रही देखती
तेरे ही दर्शन की राह !

जो मेरा लज्जाशील प्रेम किसी को न मिला, वही मैं तुम्हें देने को लाई हूँ। कितने लोग आए पर यह उनके सामने न हुआ। यह केवल अभी तक तुम्हारी राह देख रहा था।

१६४

मेरी पृथ्वी पर रवि की
किरणों - बाहें फैला कर
चुपचाप खड़ी हो जातीं
रे द्वारे मेरे आ कर !

मम अश्रु, आह, गानों के
बादल चरणों के तेरे
पहुँचाने को, सारे दिन
द्वारे पर रहतीं मेरे !

क्षण क्षण परिवर्तनशाली
रङ्गों से इस को रँग कर,
तह में, असंख्य रूपों में
इस को तुम नित्य - नया कर,

निज प्रभावान् वक्षस्थल पर
मुग्ध हर्ष से अपने
उस छायामय बादल को
दिखलाईं पड़ते पहने !

इतना झीना, चञ्चल है
है मृदुल अश्रुमय, श्यामल,
इस कारण ही है पावन,
पा सका प्रेम तव निश्चल!

जो ज्योति तुम्हारी उज्ज्वल
अतिशय पावन भयकारी,
है हेतु यही, ढक लेता
उसको दुख-छाया-धारी!

१६५

अपने लिए करूँ मैं सब कुछ,
निज से छा दूँ आशाएँ,
माया-वश तव तेज ढक रहा
कर शतरङ्गी छायाएँ!

चार दिशाओं से निज आत्मा की
सीमा तुम रचते हो,
पृथक् आत्म-सत्ता में अगणित
गीतों से रँग भरते हो।

आत्म-वियोग तुम्हारा मुझमें
जन्म ले चुका है पल में!
हृदय-स्पर्शी गीत प्रतिध्वनित
हुआ अखिल नभ-मण्डल में;

विविध वर्ण के अश्रु, हास में
भय, आशाओं के दल में;
लहरें उठतीं गिरतीं, स्वप्न
बिगड़ते, बनते पल पल में।

(इस प्रकार प्रभु, तेरी माया
मुझमें शक्ति दिखाती है,)
मुझमें तेरी उस आत्मा की
हार छिपी दिखलाती है!

रात - दिवस की लेकर कूँची
अगणित चित्रों के द्वारा
चित्रित किया देव, वह पर्दा
फैला जो जग में सारा;

इसके पीछे विस्मयजनक
जटिलतामय आसन तेरा,
शक्ति - विहीन सरलता ने
पाया है निर्वासन तेरा।

तेरी औ' मेरी प्रदर्शनी
सजी गगन के आँगन में,
तेरे मेरे स्वर का स्पन्दन
छाया निखिल प्रभञ्जन में।

युगानुयुग ये बीत रहे हैं
इसी विश्व के अञ्चल में,
पर, दोनों की आँख - मिचौनी
होती ही रहती छल में !

युगानुयुग तक जीवात्मा जो परमात्मा से पृथक् हो गई है, इस विराट् विश्व के आँगन में नाना रूपों में उसीके साथ आँख मिचौनी खेलती है।

यह संसार इन्हीं दोनों का क्रीड़ाक्षेत्र है।

१६६

निज गम्भीर गुप्त स्पर्शों से
जाग्रति देता अन्तरतम,
परमानन्द दृगों को मेरे
दे जाता है वह निरुपम।

मेरे अन्तर के तन्त्रों को
खुश हो वही बजाता है,
सुख-दुख के जाने कितने ही
स्वर वह नित्य सुनाता है।

स्वर्ण, रजत, नीलाभ, हरित
रे नश्वर रङ्गों में रँगकर
इस माया का जाल वही
बुनता है सुन्दर औ' मनहर।

उसके छिद्रों से उन चरणों का
दर्शन करने देता,
जिसका स्पर्श स्वयं मेरी ही
सारी सुध-बुध हर लेता

आते दिन, युग चले जा रहे
वही अखिल जग का कर्ता,
नाना नाम वेश नाना,
सुख, दुखावेश देता रहता।

वही परमाराध्य अपने स्पर्शों से मुझे जगाता है। हृदय के तारों पर सुख-दुःख के गीत वही सुनाता है।

सप्त रंगी माया का सर्जन वही करता है। इनके बीच में उसीका दर्श मिलता है।

युगों से वही भिन्न-भिन्न नाम, वेश और सुख-दुःख दिया करता है।

१९७

जब थी सृष्टि नवीन हुए ; ; तत नव तारे ,
हुई स्वर्ग में सभा गा उठे देव हमारे—
"अहे, पूर्णता-चित्र, अहे, आनन्द विमल वर !"
पर इतने में कहा किसी ने दुख से कातर—

"कहीं ज्योति - शृङ्खला टूटती दिखलाती है ,
नहीं एक तारिका दृष्टि में अब आती है।"
स्वर्ण-तन्त्र हो गए भग्न वीणा के उनके ,
वहीं गान रुक गए, कह उठे देव विमन के—

"खोई जो तारिका वही थी सब से उत्तम।
सचमुच वह थी स्वर्ग-लोक की गौरव अनुपम।"
उसी दिवस से खोज न उसकी रुक पाई है ,
खोया जग ने हर्ष एक, यह ध्वनि छाई है।

घनी निशा की नीरवता में बस ताराएँ
हँसती हुई परस्पर धीरे से बतराएँ—
"जो करते ये देव व्यर्थ है यह अन्वेषण ,
वह अटूट पूर्णता व्याप्त है सब में शोभन !"

विश्व की सब वस्तुओं में ब्रह्म की पूर्णता विराजमान है।

१६८

शरत् काल के मेघ-खण्ड-सा नभ-मण्डल में
चिर-ज्योतिर्मय सूर्य्य, घूमता नित विह्वल में!

मेरा गर्व न गला सका मृदु स्पर्श तुम्हारा,
मिल पाया है नहीं ज्योति में जीवन सारा!

तुम से जीवन-नाथ, हुआ हूँ न्यारे जब से,
गिनता हूँ मैं वर्ष, मास जो बीते तब से!

इच्छा है यदि यही, यही यदि क्रीड़ा तेरी
ले लो तो हे प्रभो, शून्यता नश्वर मेरी!

सोने से मढ़ विविध रङ्गसे चित्रित कर दो,
चपल पवन में बहा विस्मयों का विस्तर दो!

पुनः निशा में खेल अस्त करना यदि चाहो
तो तम में घुल-मिलूँ नहीं कुछ भी चिन्ता हो!

या निर्मल प्रभात की स्मिति में घुल सकता हूँ,
निर्मल औ शुचि शान्ति उसीमें मिल सकता हूँ!

१९९

खोए हुए समय पर कितनी काटीं आँखों में रातें !

किन्तु न मैंने समय गवाँया,

देव, तुम्हीं ने सब कुछ पाया,

मेरे जीवन का प्रतिक्षण तुम थे हाथों में अपनाते !

छिपे हुए तुम सब के भीतर

अङ्कुर बीजों में उपजा कर

कलियों में तुम फूल, फूल में तुम्हीं मधुरतम फल लाते !

थका हुआ सोया शय्या पर

सोचा, सारे कार्य्य रुके, पर

प्रात बाग़ में पाईं फूलों में विस्मयकारी बातें !

मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण तुम्हें ही अर्पित होता रहा !
तुम्हीं इस सृष्टि के आदि, विकास और परिणाम हो।
तुम्हारा कोई काम क्षण भर को रुकता नहीं।

———

२००

खोजता प्रबल आस में किन्तु
किसी कोने में मिलती नहीं;
वस्तु इस लघु गृह में खोई
नहीं मिल पाती फिर वह कहीं!

किन्तु है तेरा भवन असीम
खोजता पहुँचा तेरे द्वार,
सान्ध्य नभ-स्वर्ण-छत्र के तले
खड़ा मैं तुमको रहा निहार!

अमरता-के तट पहुँचा देव,
जहाँ से कुछ भी खोता नहीं—
न आशा, हर्ष न मुख-छाया
अश्रु-नयनों से देखी कहीं!

डुबा दो मेरा जीवन रिक्त
अतल पूर्णता-सिन्धु में देव,
पूर्णता में जग की जानूँ
सकृत् वह मधुर स्पर्श स्वयमेव।

अपनी कमी को पूरी करने के लिए मैंने संसार का चक्कर लगाया और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अब तो मैं अमरता के निकट पहुँच गया हूँ।

२०१

भग्न मन्दिर के विस्मृत देव,
भग्न वीणा के तार अजान
(हाय रे, आया कैसा समय)
नहीं करते तेरा गुणगान

न घण्टे की ध्वनि बतलाती
सन्ध्या-पूजा का समय विशेष;
पवन यह शान्त मौन हो, नहीं—
तुम्हारा कुछ कहता सन्देश !

तुम्हारे निभृत भवन में चपल
आ रहा वासन्ती वातास ,
लिए उन सुमनों के सन्देश
भेंट में जो न पहुँचते पास !

दया का भिक्षु पुजारी वृद्ध
कर चुका तुमको अस्वीकार ;
किन्तु गोधूलि-काल जब मिले
अग्नि औ' छाया का संसार-

इसी टूटे मन्दिर में देव,
छिपाए निज अन्तर में प्यास
उसी क्षण आ जाता अब भी
तुम्हारे दरवाजे के पास!

बहुत से पर्वोत्सव के दिवस
यहाँ आते नीरवता साथ,
चली जातीं कितनी रातें
पर्व की बिना दीप अज्ञात!

मूर्तियाँ बनती ही आतीं
कलाकारों से कुशल अनेक,
और विस्मृति-धारा में पूत
प्रवाहित होतीं अवसर देख

भग्न-मन्दिर का केवल देव
सदा लेकर जग का अपमान,
बिना ही पूजा के चुपचाप
पड़ा रह जाता निश्चल-प्राण!

संसार में नित्य नई मूर्तियाँ, नए मन्दिर बनते हैं, पर टूटा हुआ मन्दिर सब की उपेक्षा सहकर बिना किसी की पूजा पाठ में चुप-चाप खड़ा है।

२०२

न कोलाहलमय ऊँचे शब्द—
कहूँ, यह प्रभु की अभिलाषा,
इसलिए धीरे ही धीरे
व्यक्त करता मन की भाषा!

गीत की मर्मर ध्वनियों में
व्यक्त होंगी मन की बातें!
हाट में राजा के सब लोग
शीघ्रता से बढ़ते जाते,

सभी क्रेता-विक्रेता वही
मिला मुझ को असमय अवसर
कार्य के लगे हुए जब ढेर
हो गई अरे ठीक दुपहर!

बाग में खिलने दो फिर फूल
समय यद्यपि खिलने का नहीं,
भ्रमर के अलसित गुञ्जन गीत
छिड़ें मध्याह्न-काल में यहीं!

लिए मैं बुरे-भले का प्रश्न
रहा उलझा घण्टों उनमें,
किन्तु बेकार दिनों के मित्र
चाहते आना अब मन में!

आज सहसा उनका आह्वान
समझ में मेरी आता नहीं,
व्यर्थ किस कार्य्य-हेतु वे मुझे
खींच कर ले जाते फिर वहीं!

मैं अब से अपने मन के भाव भगवत्-चरणों में चढ़ाता हूँ। गीत के स्वरों में मन के भाव व्यक्त होंगे। न जाने कब से मैं सद् और असद् के ही निर्णय में उलझा रहा, किन्तु वह सब व्यर्थ है। वे उलझनें मुझे फिर वहीं खींचकर ले जाना चाहती हैं।

२०३

जानता, आवेगा वह दिन
ढँकेंगी जब पार्थिव आँखें,
दृगों पर अन्तिम पर्दा डाल
उड़ेंगे प्राण खोल पाँखें।

शान्ति में होगा सब कुछ, किन्तु
रात में जागेंगे तारे,
प्रात फिर पहले ही की भाँति
जाग कर आएगा द्वारे।

सिन्धु की लहरों-सी घड़ियाँ
फेंक सुख-दुख को चल देंगी।
किन्तु यह सोच क्षणों का अन्त
मृत्यु की आभा में देखी—

क्षणों के बन्धन होते नष्ट,
विश्व में तव अपार निधियाँ;
निम्नतम आसन दीखे नहीं
न लघुतम जीवों की दुनियाँ!

वस्तुएँ, जिन्हें व्यर्थ चाहा,
जिन्हें पाया, सब जाने दे,
किन्तु कुचली, अनचाही सभी
वस्तुओं को अपनाने दे!

२०४

अवकाश पा चुका हूँ !

अब दो मुझे विदाई
मेरे समस्त भाई,
करता प्रणाम सबको, लेने बिदा रुका हूँ !
अवकाश पा चुका हूँ ।

तज कुञ्जिका भवन की,
आत्मीयता सदन की,
केवल मधुर वचन-हित मैं सामने झुका हूँ
अवकाश पा चुका हूँ ।

जो कुछ यहाँ लुटाया,
उससे अधिक कमाया,
रह पास तुम सभी के अब खेल खा चुका हूँ ।
अवकाश पा चुका हूँ ।

अब प्रात हो रहा है,
अब रात खो रही है—
वह दीप जो भवन के तम में जला चुका हूँ ।
अवकाश पाथ,चुका हूँ ।

आई पुकार मेरी,
अब है न और देरी,
प्रस्थान - हेतु यात्रा के पग बढ़ा चुका हूँ ।
अवकाश पा चुका हूँ ।

२०५

इस विदा के समय सखी, करो
सौभाग्य - कामना मेरी।

नभ लाल हो उठा उषा-काल,
पथ मेरा मनहर लगता,

मत वहाँ के लिए कहो कौन धन
साथ हमारे चलता,

खाली है हाथ, किन्तु उर में
ले चलती आस घनेरी।

धारण कर लूँगी आज गले में
मैं विवाह की माला,

मैं अन्य यात्रियों-सा न सजूँ
जो गैरिक वस्त्र निराला,

खतरे हैं पथ में किन्तु
न उर की भीरु भावना मेरी।

जब पूरा होगा पन्थ सान्ध्य—
तारा नभ में आएगा,

सन्देश आगमन का मेरे
जब वहाँ पहुँच जाएगा,

रे राज-द्वार पर सान्ध्य गीत
तब देंगे नभ में फेरी।

२०६

रहा अनजान किया कब पार, प्रथम मैंने जीवन का द्वार !
कौनसी छिपी शक्ति से, खींच
मुझे ला इस रहस्य के बीच,
खिलाया, ज्यों निशीथ में कली खिल उठे जङ्गल में सुकुमार।
प्रात तब मैंने आँखें खोल
समझ पाया इस स्थिति का मोल
कि मैं था नहीं कभी अनजान पथिक इस जगती-बीच अपार।
और जो है अज्ञात अनाम
उसी निर्गुण का है यह काम—
मुझे दे मम जननी का रूप, लिया अङ्कम में बाँह पसार।
वही फिर मृत्यु समय अज्ञात
पास आएगा ज्यों चिर ज्ञात
मृत्यु चाहूँगा उसी प्रकार किया जैसे जीवन का प्यार!
दाहिने स्तन से माँ निज बाल
लगाती बायें से जिस काल
और वह चिल्ला उठता तुरत प्राप्त करने अपना अधिकार!

मैं मृत्यु को वैसे ही प्यार करूँगा जैसे जीवन को चाहा जीवन और मृत्यु माँ के दो स्तन हैं। बच्चा एक से दूसरे पर पहुँचने के बीच से उठता है। फिर वह दूसरे को पाकर घबराता नहीं।

२०७

पराजय के अनेक उपहार, हार से तुम्हें सजाऊँगा!
शक्ति के बाहर है वह श्रेय—
बचा लूँ निज को अपराजेय,
जानता हूँ अपना अभिमान नहीं अब मैं रख पाऊँगा!

खुलेंगे जीवन के बन्धन
अमित दुख पाकर अन्तिम क्षण
गान में सिसकेगा उर शून्य
सिसकती ज्यों बंशी उन्मन,
और निज अमित व्यथा से देव, कठिन पाषाण रुला दूँगा!

जानता निश्चित शतदल - दल
रह सकेंगे न मुँदे प्रतिपल
गुप्त मधु का कोना भी शीघ्र
रिक्त हो जाएगा चञ्चल,
शेष बच जायेगा कुछ नहीं न कुछ भी तुम तक लाऊँगा!

मेरे पास कुछ बचा न रह सकता। मेरी पराजय ही नाना रूपों में रह गई है। मैं इसीसे तुम्हें सजाऊँगा।

नील अम्बर से को नैन
मुझे देखेगा हो बेचैन,
बुलाएगा मुझको तब वहीं
प्रेम से कहकर नीरव बैन,
और मैं महामृत्यु को वहीं देव-चरणों में पाऊँगा।

नीले आकाश को कोई आँखें मुझे बेचैनी से बुलाएँगी और मैं वहाँ जाकर स्वामी के चरणों में मृत्यु को प्राप्त करूँगी।

१०८

छोड़ देता हूँ जब पतवार।
जानता आया वह अवसर
इसे लोगे अब अपने कर,
पूर्ण हो जाएगा कर्तव्य व्यर्थ मरना भी है बेकार!

बटोरो मन, तुम अपने हाथ,
रहो चुपचाप हार के साथ,
बैठने को चुप अपने स्थान समझ लो निज सौभाग्य अपार!

दीप मेरे बुझते जाते
वायु का ज्यों झोंका खाते,
उन्हें ज्योतित करने का यत्न भूल जाता हूँ बारम्बार!

किन्तु अब भू पर आसन डाल
तिमिर में देखूँगा पथ-हाल,
नाथ, जब इच्छा हो चुपचाप बैठना आकर तुम इस बार!

२०९

कह दिया सभी से गर्व सहित
तुम हो मेरे परिचित, प्यारे,
अब देख रहे वे चित्र तुम्हारे
कामों में मेरे सारे।

वे आकर मुझसे पूछ रहे—
"वह कौन ?" उन्हें क्या दूँ उत्तर!
"सचमुच, कह सकती नहीं" यही
कह देता उन के प्रश्नों पर।

वे मुझ पर दोषारोपण कर
भर घृणा वहाँ से चल देते,
पर, तुम बैठे चुपचाप वहाँ
हे देव, मुस्कुराते रहते।

मैं तेरी मधुर कहानी को
कहता हूँ रचकर गीत अमर,
रे मेरे अन्तर का रहस्य
चल पड़ता है बाहर सत्वर।

वे आकर कहते—"बतला दो,
अपने गीतों का अर्थ मुझे!"
मैं कहता—"आह, न जान सका
वे अर्थ न जाने, क्या समझे!"

वे हँसकर अतिशय घृणा साथ
अपने पथपर फिर चल देते,
पर, तुम बैठे चुपचाप वहाँ
हे देव, मुस्कुराते रहते!

रवीन्द्र की अन्तिम कविता

२१०

तुम निज सृष्टि-पथ रखती हो घेर कर
अद्‌भुत छल-जाल से,
हे छलनामयी।
मिथ्या-विश्वास-फन्द फैला योग्य कर से
सबल इस जीवन में।
इस छलना से तुम अपने महत्व को करती हो चिह्नित;
उसके लिये न रखी गुप्त घन-रजनी।
तारा तुम्हारा उसे
जो पथ दिखाता है
उसका वह अन्तः पथ
वह चिर स्वच्छ है;
सहज विश्वास से
वह करता है उसे चिर-अतिउज्ज्वल।
बाह्य है कुटिल पर अन्तर सरल है,
यही तो महत्ता है।
लोग उसे करते विडम्बित हैं।

प्रातः ९½ बजे, ३० जुलाई सन् १९४१ को लिखी गई।

सत्य वह पाता है
अपनी प्रभा से धौत अपने ही अन्तर में।
कुछ भी न सकता कर उसको प्रवञ्चित,
पुरस्कार अन्तिम ले जाता है
निज भाण्डार में।
करता है अङ्गीकार हर्ष से जो छलना
पाता तव हाथों से
अक्षय अधिकार वह शान्ति का।

परिशिष्ट

“कोमल-[illegible] स्पर्श [illegible] [illegible] रचनाओं के [illegible] [illegible] के लेखक — महान लेखक हो। धन्य कवि - तुम धन्य-धन्य हो।”

कृ. पाठक

रवीन्द्र का जीवन

अपने दिव्य आलोक से दिगन्त को आलोकित करनेवाले हमारे 'बालरवि' का उदय भारत के पूर्वाञ्चल में—बङ्गाल के कलकत्ते नामक नगर में—६ मई सन् १८६१ को हुआ। सिद्धार्थ की भाँति इनकी माता का स्वर्गवास इनकी शैशवावस्था में ही हो गया। इनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर अपने धार्मिक पवित्र विचार एवं सरल जीवन के लिए प्रसिद्ध थे। लोक हितैषणा से प्रेरित उनके महान् साहसिक कार्यों ने बङ्गाल में नवीन चेतना की लहर फैला दी। इसी कारण लोग उन्हें 'महर्षि' कहा करते थे। रवीन्द्र अपने पिता के अन्तिम पुत्र थे। इनके सबसे बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ दार्शनिक और एक अच्छे गद्य लेखक थे। दूसरे भाई ज्योतीन्द्रनाथ एक सिद्धहस्त और कुशल चित्रकार थे, जिनके चित्र संसार भर में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। तीसरे भाई—इण्डियन-सिविल-सर्विस के प्रथम भारतीय सदस्य हुए। इनके

भांजे अवनीन्द्रनाथ और जगनेन्द्रनाथ भारतीय कला के युग्म पुत्र हैं। इस प्रकार के पारिवारिक वातावरण में रहने के कारण रवीन्द्र को प्रतिभा को विकसित होने का अपूर्व सुयोग प्राप्त हुआ।

इनका बचपन कलकत्ते के जेरोसैङ्को-भवन में बीता। इन्होंने अपनी शैशवावस्था में यह जाना तक नहीं कि गरीबी क्या चीज़ है। इनके भाइयों ने इन्हें उसी समय से कविता करने को प्रोत्साहित करना आरम्भ किया जब कि ये अपने पैरों किसी प्रकार चल सकते थे। घर की स्त्रियों से भी इन्हें इस कार्य्य के लिए पर्याप्त प्रेरणा मिली। इनके दूसरे भाई ज्योतीन्द्रनाथ की पत्नी में इनकी अटूट-श्रद्धा थी। वे इन्हें बहुत प्यार करती थीं। उनकी मृत्यु से इनको अपार दुःख हुआ। रूढ़ि-बद्ध सारी बातें इनके लिए असह्य थीं। और बच्चों की भाँति ये भी स्कूल में बिठाए गए, पर व्यर्थ! इनका मन वहाँ पढ़ने में नहीं लगता था, अन्त में स्कूल छोड़ दिया। इन्हें पढ़ाने के लिए घर पर ही शिक्षक नियुक्त हुए, पर उनसे भी पढ़ने से ये सदा भागते रहे। उनसे किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाने के लिए ये कोई न कोई बहाना बना लिया करते थे। एक शब्द में कहा जा सकता है कि इनकी शिक्षा एक मात्र ईश्वर की देन थी। प्रत्येक प्रातःकाल ये इतने हर्षित हो उठते मानों यह इन्हें कोई नया सन्देश लाया है।

जब यज्ञोपवीत संस्कार के समय इनका मुण्डन हुआ तब ये अपने मुँड़े हुए सिर के कारण बड़े ही लाज में पड़े रहते थे और अपने मित्रों से मिलने में भी हिचकते थे। इसी समय इनके पिता ने इन्हें अपने

साथ हिमालय यात्रा पर चलने के लिए पूछा, ये बड़े हर्षित हुए। इनके लिए नये कपड़े बनवाए गए और एक बूटीदार टोपी भी लाई गई। जब ये घोड़ा-गाड़ी पर बैठे तब इन्होंने टोपी हाथ में ले ली। किन्तु पिता जी की आज्ञा से उसे सिर पर रक्खा। गाड़ी पर बैठे बैठे जब इनके पिता की आँखें दूसरी ओर हट जातीं, तब टोपी सिर से उतार लेते और फिर जब वे इधर देखना चाहते तब फिर सिर पर रख लेते थे। इनके पिता ने यात्रा में बोलपुर में, जो इनका गाँव है, कुछ समय के लिये रुकना चाहा। ये वहाँ पर अपने एक मित्र द्वारा प्राप्त असम्भाव्य कल्पनाओं को ढूँढ़ते फिरे किन्तु मिला कुछ भी नहीं। इसी यात्रा में इनके पिता ने इन्हें कुछ रुपये देकर इन्हें रुपये आदि का जमा-खर्च करने का भार सौंप दिया था।

प्रारम्भिक जीवन

ज्योतीन्द्रनाथ उस समय 'भारती' नाम से एक मासिक पत्रिका निकालते थे। रवीन्द्र पन्द्रह वर्ष की आयु तक उसमें अपनी कविताएँ देते रहे। उनमें से इनकी सर्वप्रथम रचना 'कवि का स्वप्न' है, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई, उस समय जनता में इसकी बड़ी माँग रही। गीति-कथाएँ और काव्य-बद्ध कहानियाँ भी इसमें छपती रहीं। इनकी कविताओं के ही कारण पत्रिका की ग्राहक-संख्या बहुत बढ़ गई थी। इसमें प्रकाशित कविताएँ बाद में 'बन-फूल', 'गाथा' 'भानुसिंह' आदि नामों से प्रकाशित हुईं। बँगला के गीति-काव्य पर अन्वेषण-पूर्ण ग्रन्थ लिखनेवाले डा० निशिकान्त चटर्जी ने

इनके 'भानुसिंह' को देश-साहित्य के प्राचीन गौरव को प्रस्तुत करने-वाले सर्व-श्रेष्ठ गीतों में स्थान दिया है।

इनके परिवार के अन्य लोगों की आन्तरिक अभिलाषा थी कि ये विश्व-विद्यालय की कोई उपाधि प्राप्त कर लें, और इसीलिए इन्हें लोगों ने इङ्गलैण्ड भेजने का निश्चय किया। २० सितम्बर सन् १८७७ में जब कि ये केवल सोलह वर्ष के थे, इङ्गलैण्ड के लिए चल पड़े। ये वहाँ साल भर तक रहे किन्तु उपाधि प्राप्त करने में असफल रहे। अतः ४ नवम्बर सन् १८७८ में लौटकर बम्बई में उतर पड़े। ये इङ्गलैण्ड में प्रसन्न नहीं थे। 'यूरोप-भ्रमणकारी के पत्र' (Letters of a visitor to Europe) के नाम से इन्होंने अपने वहाँ के अनुभव 'भारती' में प्रकाशित किये थे। इङ्गलैण्ड जाने के आगे-पीछे इन्होंने बहुत से गद्य और पद्य की रचनाएँ कीं। इनका गद्य-पद्य से कहीं अधिक प्रभविष्णु हुआ है। इसी समय इन्होंने माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' की आलोचना लिखी।

'करुणा' इनका प्रथम उपन्यास है। इसमें जीवन के दुःखमय पक्ष ही दिखाने का प्रयत्न पाया जाता है। 'रुद्रचन्द' नाम से इन्होंने एक दुःखान्त पद्यबद्ध रचना की। फिर 'भग्न-हृदय' लिखा, जो पूर्व कृति से अधिक स्पष्ट एवं प्रौढ़ है। इसके विषय में इन्होंने लिखा है, कि "इसे मैंने अठारह वर्ष की आयु में लिखना प्रारम्भ किया जब कि न तो मैं युवावस्था में ही था और न तो बचपन में ही। यह अवस्था सत्य की किरणों से ज्योतित नहीं होती। इसमें आभा यत्र-

तत्र दिखाई पड़ती है किन्तु और सब स्थल छायामय ही होते हैं।... और पन्द्रह सोलह से बाईस या तेईस तक की मेरी आयु असम्बद्ध ही रही।"

किन्तु इनके पिता इनको कविता मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे, वे चाहते थे कि ये किसी प्रकार एक विदेशी उपाधि प्राप्त कर लें। इसी कारण इन्हें दूसरी बार फिर इङ्गलैण्ड जाना पड़ा, किन्तु अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी ये कृतकार्य्य नहीं हो सके और फिर भारत लौट आए।

कवि की जीवन धारा

१८८१ से निरन्तर सात वर्षों तक का समय इनके लिए साहित्यिक प्रयोग और बौद्धिक उत्साह का काल कहा जायगा। इस बीच उन्होंने सान्ध्य संगीत, प्रभात सङ्गीत, वाल्मीकि-प्रतिभा, केलि मृगया, विविध प्रसङ्ग आदि पुस्तकें लिखीं।

दिसम्बर सन् १८८३ में इनका विवाह संस्कार हुआ। करवार के प्राकृतिक स्थान पर रहते हुए इन्होंने 'प्रकृति का बदला' नामक नाटक लिखा। फिर कलकत्ता आने पर 'चित्र और गीत,' 'नलिनी', 'माया का खेल' पुस्तकें लिखीं। फिर 'आलोचना', 'समालोचना' पुस्तकें निकलीं। तदनन्तर इन्होंने 'राजर्षि' नामक उपन्यास लिखा जिसे बाद में 'विसर्जन' नाम से नाटक के रूप में परिवर्तित कर दिया। इनके लिखने या बोलने के विषय सामाजिक या शिक्षा सम्बन्धी होते थे। इनके पूर्व बँगला-साहित्य में बङ्किमचन्द्र का बोलबाला था किन्तु बाद में इन्हीं का सिक्का सर्वत्र जम गया।

ग़ाज़ीपुर आने के पूर्व—जो गुलाबों के लिए प्रसिद्ध है—इन्होंने 'चित्राङ्गदा' नामक पद्य बद्ध नाटक लिखा। ग़ाज़ीपुर में इन्होंने 'मानसी' और 'धर्म-प्रचार' लिखे। १८९० के लगभग इन्होंने 'राजा और रानी' नामक उच्चकोटि का नाटक लिखा।

कवि की इच्छा बैलगाड़ी पर सारे भारत भ्रमण करने की थी किन्तु इनके पिता ने सियालदह जाकर ज़मीदारी का काम करने को कहा। इसी बीच ये इङ्गलैण्ड गए और मार्ग में जर्मन और यूरोपियन सङ्गीत का अध्ययन किया। तीस वर्ष की अवस्था में ये सियालदह आए, किन्तु वहाँ अपनी प्रजा में बिल्कुल घुलमिल कर रहते थे। इसी समय 'भारती' बन्द हो गई और इन्होंने 'साधना' नामक पत्रिका निकाली।

फिर 'मालिनी', और 'उर्वशी' नामक सबसे बड़ी कविताएँ जो सौन्दर्य्य का प्रतीक हैं, प्रकाशित हुईं। सन् १९०२ इनके जीवन का सबसे दुःखमय समय था, जब कि इनकी अत्यन्त प्रिय पत्नी बीमार पड़कर अन्त में परलोक सिधारी।

इसके पूर्व इन्होंने अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ को अमेरिका शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। तभी से ये जीवन में सर्वथा एकाकी हो गए। इनके एक छोटा पुत्र और रुग्णा नन्हीं पुत्री भी थी, जिनकी देख-रेख इन्हें ही करनी पड़ती थी। बच्चों के लिए इन्होंने 'कथा' नामक पुस्तक लिखी।

१८९७ से १९०० तक इन्होंने कल्पना, कथा, कनिका, काहिनी, और क्षणिका नामक पुस्तकें लिखीं। ऋतु-संहार, सती, नरकवास, कर्ण और कुन्ती फिर क्रमशः निकालीं।

१९०१ में ये 'वंग-दर्शन' में सम्पादक हो गए। इसी समय इन्होंने बोलपुर में 'शान्ति-निकेतन' नामक आश्रम की स्थापना की, जब कि इसमें केवल पाँच छात्र थे। १९१२ में ये इङ्गलैण्ड गए और साथ ही गीताञ्जलि का अङ्गरेजी अनुवाद भी साथ लेते गए, जिसे वहाँ के विद्वानों ने बहुत पसन्द किया। १९१३ में इन्हें साहित्य में विश्व-विजेता के रूप में नोबेल प्राइज (Nobel Prize) मिला। फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय से इन्हें डाक्ट्रेट की उपाधि मिली। १९१४ में इन्हें नाइट (Knight) की उपाधि मिली। फिर बलाका, फाल्गुनी, The home of the world किताबें निकलीं।

फिर ये चीन, जापान, अमेरिका, जर्मनी, इटली आदि देशों में निमन्त्रित किए गए और वहाँ इनका यथेष्ट सम्मान हुआ। इनकी गीताञ्जलि का अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। विश्व-भारती के अतिरिक्त इन्होंने 'श्री निकेतन' की भी स्थापना की। इन्हीं के लिए ये जीवन पर्य्यन्त यत्नशील रहे।

इस प्रकार भारती के मन्दिर को विविध उपकरणों से सजाकर हमारा प्रिय विश्व-कवि ७ अगस्त सन् १९४१ को परम-धाम को सिधारा।

विशेषताएँ

रवीन्द्र इस युग के सच्ची भारतीयता के प्रतीक महापुरुष थे। इन्होंने विश्व को भारतीय उच्च संस्कृति और सभ्यता का सन्देश दिया और बताया कि इसी के अनुकरण में विश्व का कल्याण है। इन्होंने अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में भारत का स्थान अत्यन्त उच्च कर दिया है। इस प्रकार की विभूति एक युग में कहीं आ जाती है। हमें अपने कवीन्द्र पर गर्व है। इन्होंने भारतीय-साहित्य में युगान्तर ला दिया, इसमें सन्देह नहीं। वे मानवता के पुजारी थे और कृत्रिमता एवं बुराइयों के संहारक। आज महाकवि के नहीं रहने पर भी हम इन्हें अपने अन्तर्द्वार पर सदैव मूर्तिमान् पाते हैं।

कवीन्द्र के स्वर्ग-वास के पश्चात्

पढ़ी गई उनकी कविता*

सामने लहरे शान्ति-समुद्र, खोल दे नाविक, अपनी नाव !

तुम्हीं होगा—चिर साथी, अन्त,

खींच ले—अङ्कम में स्वच्छन्द,

ज्योति रे उस अनन्त के पन्थ करेगा ध्रुवतारा भर चाव !

मुक्तिदाता हे, तेरी क्षमा

और वह तेरी दया अनूप

हमारी चिर यात्रा में देव,

बनेगी मुझको सम्बल रूप !

तुम्हीं दो मानव-बन्धन काट,

मिले बाहों में विश्व विराट्,

महा अनजाने का निर्भीक हृदय में हो परिचय का भाव !

---

* ३ दिसम्बर १९२९, एक बजे ।

प्रस्तावना*

कुछ दिनों पूर्व मैंने एक प्रख्यात दवा करनेवाले बङ्गाली डाक्टर से कहा, "मैं जर्मन भाषा नहीं जानता, किन्तु यदि किसी जर्मन कवि का अंग्रेजी अनुवाद मुझे प्रिय लगे तो मैं ब्रिटिश म्यूजियम में जाकर अंग्रेजी की ऐसी पुस्तक खोजूँगा जो मुझे कवि के जीवन तथा उसके विचारों के इतिहास का कुछ परिचय दे। किन्तु यद्यपि रवीन्द्रनाथ टैगोर के इन गद्यानुवादों ने मेरे अन्तर को इतना आन्दोलित कर दिया जितना वर्षों से किसी ने नहीं किया था, फिर भी मैं इनके जीवन और इनके उन विचारों की प्रगति के विषय में, जिन्होंने इसे सम्भव कर दिखाया, नितान्त अनभिज्ञ ही रह जाऊँगा, यदि किसी भारतीय यात्री ने मुझे नहीं बताया।" मुझे प्रभावित होना ही चाहिए, यह उसे स्वाभाविक प्रतीत हुआ, क्योंकि उसने कहा, "मैं रवीन्द्रनाथ को प्रतिदिन पढ़ता हूँ, उनकी एक पंक्ति को पढ़ने के मानी हैं जीवन की सारी झंझटों को भूल जाना।" मैंने कहा, "रिचर्ड द्वितीय के राज्य में इङ्गलैण्ड का निवासी कोई अंगरेज पेट्रार्क या दान्ते का अनुवाद

---

* अंग्रेजी गीताञ्जलि की भूमिका।

यदि पाता तो अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए कोई पुस्तक न पा सकता, वह या तो किसी फ्लोरेण्टाइन बैङ्कर से अथवा लोम्बर्ड के व्यापारी से पूछता, जैसे मैंने तुमसे पूछा है। क्योंकि यह कविता इतना सरल और इतनी भाव-पूर्ण है कि मैं जहाँ तक समझता हूँ तुम्हारे देश में पुनर्जाग्रति का युग आ गया और मैं लोगों की सुनी-सुनाई बातों के अतिरिक्त कभी भी इसके विषय में कुछ भी नहीं जान सकूँगा।" उसने कहा, "हमारे यहाँ और भी कवि हैं, किन्तु इनकी कोटि का कोई भी नहीं। हम लोग इसे रवीन्द्रनाथ का युग कहते हैं। यूरोप में मुझे कोई भी ऐसा प्रख्यात कवि नहीं मालूम पड़ता, जैसे वे हमारे यहाँ। वे सङ्गीत में भी उतने ही महान् हैं जितने कविता में। उनके गीत पूर्व भारत से ब्रह्मदेश तक जहाँ कहीं भी बँगला बोली जाती है, गाए जाते हैं। वे उन्नीस वर्ष की ही अवस्था में प्रसिद्ध हो चुके थे जब कि उन्होंने अपना प्रथम उपन्यास लिखा। उनके वे नाटक, जो उन्होंने जरा बड़े होने पर लिखे थे, अबतक कलकत्ते में खिलते हैं। उनके जीवन की पूर्णता पर मैं मुग्ध हूँ; जब कि वे बिल्कुल बच्चे थे उन्होंने प्राकृतिक विषयों पर बहुत कुछ लिखा, दिन भर वे अपने बगीचे में बैठे रहते; इन्होंने लगभग अपने पचीस वर्ष से शायद पैंतीसवें वर्ष तक, जब कि ये एक महान् दुःख में थे, हमारी भाषा में सुन्दरतम प्रेम गीत लिखे" और तब अत्यन्त भावावेश में उसने कहा, "मैंने सत्रह वर्ष की अवस्था में उनके प्रेम-गीतों से कितना कुछ पाया, शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके पश्चात् इनकी

कला गम्भीरतर होती गई; वह धार्मिक और दार्शनिक होती गई; मानव-भावनाएँ इनके गीतों में हैं। वे हमारे महापुरुषों में ऐसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने जीना अस्वीकार नहीं किया, बल्कि जीवन ही में से कहा है, और यही कारण है कि हम उन्हें चाहते हैं।" सम्भव है मैंने उसके सुने हुए शब्दों को अपनी स्मृति में बदल दिया हो किन्तु उसके भाव को नहीं। "कुछ समय पूर्व वे हमलोगों के एक चर्च में देव-स्तुति पढ़नेवाले थे—हम ब्राह्मसमाजी अँगरेजी में आपका 'चर्च' शब्द ही प्रयुक्त करते हैं—यह चर्च कलकत्ते में सबसे बड़ा था और यह केवल जनाकीर्ण ही नहीं था, लोग खिड़कियों पर भी खड़े थे, बल्कि भीड़ के कारण सड़कों पर लोग इस पार से उस पार तक नहीं जा सकते थे।"

अन्य भारतीय भी मुझसे मिलने आए और इस व्यक्ति के प्रति उनकी श्रद्धा ने हमारे जगत् में आश्चर्य उत्पन्न कर दिया, जहाँ कि महान् एवं लघु सभी वस्तुएँ स्पष्ट ह्रास और अर्द्ध-गम्भीर कुरुचि के पर्दे से ढक दी जाती हैं। जब हम लोग प्रधान मन्दिर (Cathedrals) का निर्माण कर रहे थे क्या हम लोग अपने महापुरुषों के प्रति वैसी ही श्रद्धा रखते थे। एक व्यक्ति ने मुझसे कहा, "प्रति दिन प्रातःकाल तीन बजे—मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने देखा है—ये ध्यान में निश्चल बैठ जाते हैं और दो घण्टे तक ईश्वरीय संस्तुति की पूजा से नहीं उठते। इनके पिता, महर्षि, कभी कभी दूसरे दिन तक बैठे ही रह जाते; एक बार एक नदी पर वे भू-भाग विशेष के सौन्दर्य के कारण ध्यान में निमग्न हो गए और नाविक अपनी यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व आठ घण्टे तक

प्रतीक्षा ही करते रहे।" तब उसने मुझे टैगोर के परिवार के विषय में यह बतलाया कि किस प्रकार पीढ़ियों से इनके वंश में महापुरुष होते आए हैं। उसने कहा, "इस समय जगनेन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ टैगोर कलाकार हैं; और रवीन्द्रनाथ के भाई द्विजेन्द्रनाथ एक महान् दार्शनिक। गिलहरियाँ डालियों से आकर उनके घुटनों पर चढ़ जाती हैं और चिड़ियाँ उनके हाथों पर आ बैठती हैं।" इन लोगों के विचार में मुझे एक प्रकार का प्रत्यक्ष सौन्दर्य और अर्थ का भाव दीखता है मानों वे नीट्शे (Nietzsche) के उस सिद्धान्त को मानते हैं कि हमें उस नैतिक और बौद्धिक सौन्दर्य पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए जो आगे या पीछे पार्थिव वस्तुओं पर अपने आप प्रभाव न डाले।

मैंने कहा, "तुम पौरस्त्य लोग एक परिवार को गौरवान्वित रखने का ढंग जानते हो। एक दिन एक अजायबघर के अध्यक्ष ने मुझे एक ठिगने, काले आदमी को दिखाया जो अपने चीनी अक्षरों को लगा रहा था, और कहा, "वह मिकैडो का परम्परागत उत्तराधिकारी न्यायाधीश है, वह इस पद को ग्रहण करनेवाला अपने वंश का चौदहवाँ व्यक्ति है।" उसने कहा, "जब रवीन्द्रनाथ बच्चे थे तब वे अपने घर में चारों ओर से साहित्य और सङ्गीत से घिरे हुए थे।" मैंने कविताओं की भावमयता और सरलता को सोचकर कहा, "क्या तुम्हारे देश में प्रचारवादी साहित्य और आलोचना बहुत हैं? हमलोगों को इतना अधिक (प्रचार और आलोचना) करना पड़ता है, विशेषकर मेरे अपने देश में, कि हम लोगों के मस्तिष्क की सर्जन-शक्ति क्रमशः क्षीण

होती जा रही है और फिर भी हम उसे रोक नहीं सकते। यदि हमारा जीवन अविश्रान्त युद्ध न होता, तो हम अपनी रुचि ही खो बैठते, हम नहीं जानते कि क्या अच्छा है, हममें श्रोता और पाठक न मिलते। हमारी शक्ति का चार-पञ्चमांश बुरी आदतों के झगड़े में ही खर्च हो जाता है या तो हमारी समझ से या औरों की।" उसने कहा—"मैं समझता हूँ हमारे यहाँ भी प्रचारवादी रचनाएँ हैं। गाँवों में लोग माध्यमिक-काल की संस्कृत (साहित्य) से ली गई लम्बी पौराणिक कविताएँ पढ़ते हैं, और वे प्रायः ऐसे अंश रखते हैं जो कि लोग अपने कर्तव्य अवश्य करें।"

(२)

मैं इन अनुवादों की हस्तलिखित प्रति कितने ही दिन अपने साथ लिए रहा। और कभी इसे रेलगाड़ी में पढ़ता, कभी घोड़ागाड़ी की छत पर, कभी होटलों में। प्रायः इसे मुझे इसलिए बन्द कर लेना पड़ा है कि कहीं कोई अजनबी देख न ले कि इसने मुझे कितना प्रभावित कर दिया है। मेरे भारतीय मुझसे कहते हैं कि ये गीत, जो मूलरूप में मात्राओं की सूक्ष्मता, अननुवाद्य रङ्गों की कोमलता और छन्दों के आविष्कार से पूर्ण हैं, अपने विचारों में एक (नवीन) लोक का दर्शन कराते हैं, जिन पर मैं अपने जीवन भर सोचता रहा। एक श्रेष्ठतम संस्कृति का कार्य्य होते हुए भी ये साधारण भूमि से उत्पन्न घास और झाड़ियों-से प्रतीत होते हैं। जहाँ कविता और धर्म एक ही वस्तु हैं,

वहीं एक परम्परा शिक्षित एवं अशिक्षित से रूपक और मनोभाव एकत्र करती हुई कितने ही शतकों से होती हुई गुजर गई है और विद्वान् तथा योग्य पुरुष के विचार द्वारा प्राचीन युग की अनेकता की याद दिलाती है। यदि बङ्गाल की सभ्यता अविच्छिन्न रही, यदि वही सर्वसाधारण विचार जो—जैसा कि अनुमान किया जाता है—सबमें है, हम लोगों की भाँति इस प्रकार दर्जनों विचारों में विभक्त न हो गई जो एक दूसरे से मिलते ही नहीं तो वह वस्तु विशेष, जो इन कविताओं में सबसे सूक्ष्म है, कुछ ही पीढ़ियों के पश्चात् सड़क के भिखमङ्गों में भी अवश्य ही आ जायगी। जब इङ्गलैण्ड में एक ही विचार-धारा थी तब चॉसर ने (Chauser) ने अपनी 'ट्रायलस और क्रिसिडा' लिखी, और यद्यपि उसने इसे पढ़ने या सुनने के लिए लिखी थी—क्योंकि हम लोगों का समय शीघ्रता से आ रहा था—फिर भी कुछ दिनों वह संगीतज्ञों द्वारा भी गाई गई। रवीन्द्रनाथ टैगोर, चॉसर (Chauser) के सन्देश-वाहक की भाँति, अपने शब्दों में गीत लिखते हैं और पाठक प्रत्येक क्षण समझता है कि ये बहुत विशाल, बड़े ही उन्मुक्त भावुक और बड़े ही अद्भुत हैं, क्योंकि वे एक ऐसा कार्य्य कर रहे हैं जो किसी प्रकार विचित्र, अस्वाभाविक या प्रतिक्रियात्मक प्रतीत नहीं होता। ये कविताएँ उन तरुणियों की मेज पर सुन्दर छपी हुई छोटी पुस्तक के रूप में नहीं पड़ी रहेंगी, जो अपने अलस करों से उठाकर एक उसी निरर्थक जीवन पर आहें भर सकें, जितना मात्र की वे जीवन के विषय में जान सकी हैं,

अथवा जीवन के कार्य्य-व्यापार में अभिनव प्रविष्ट छात्र उसे विश्व-विद्यालय में एक तरफ रख देने मात्र के लिए ले जायँ, बल्कि क्रमागत पीढ़ियों में यात्री लोग राजमार्ग पर चलते हुए और नावों में आगे बढ़ते हुए गुन-गुनाएँगे। एक दूसरे की प्रतीक्षा करते हुए प्रेमी इन्हें गुनगुनाते हुए इस ईश्वर-प्रेम में एक ऐसी ऐन्द्रजालिक खाड़ी पायेंगे जिसमें उनका उग्रतर प्रेमोन्माद स्नान करके अपने यौवन को नवीन कर सकेगा। इस कवि का हृदय प्रतिक्षण बिना किसी प्रकार के अधः-पतन के अप्रतिहत रूप से उन तक जाता है, क्योंकि इसने जान लिया है कि वे समझेंगे; और इसने अपने को उनके जीवन के वातावरण से आपूर्ण कर रखा है। वह यात्री जो गैरिक वस्त्र को पहनता है, ताकि उसमें धूल दिखाई न पड़े, अपनी शय्या पर पड़े हुए अपने गौरव-शाली प्रेमी की माला के दलों को ढूँढ़ती हुई बालिका, अपने शून्य भवन में अपने स्वामी के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ नौकर या पत्नी सभी ईश्वरोन्मुख होते हुए हृदय की प्रतिमूर्तियाँ हैं। फूल और नदियाँ, शङ्ख-ध्वनि, भारतीय आषाढ़ की घनी वर्षा, या चिलमिलाती हुई धूप उस हृदय के संयोग या वियोगावस्था की भावनाओं की प्रति-मूर्ति हैं, और चीनी चित्रों के रहस्यमय अर्थों में भरे हुए उन आकारों के समान नदी में नाव पर बैठकर बाँसुरी बजाता हुआ व्यक्ति स्वयं ईश्वर है। एक सम्पूर्ण मानव, हम लोगों को अद्भुत लगने वाली एक पूर्ण सभ्यता, इसी कल्पना द्वारा चित्रित प्रतीत होता है; फिर भी हम इसकी विचित्रता के कारण उतने प्रभावित नहीं होते, क्योंकि हमें

ऐसा लगता है मानों हमने रोसेटी (Rossetti) के बेत-वन में घूमते हुए अपनी प्रतिमा स्वयं पा ली है अथवा साहित्य में प्रथम बार इसका देखना हमें स्वप्न में सुनी हुई वाणी-सी (विचित्र) लगता है।

पुनर्जागति के समय से यूरोपीय सन्तों की वाणी, यद्यपि उनके रूपक और उनके विचारों की सर्व-साधारण रूप-रेखा हमारे परिचित थे, हमारे ध्यान को आकृष्ट करने में असमर्थ हो गई। हम जानते थे कि अन्त में हमें संसार छोड़ना ही होगा और हम विपत्ति या अत्यन्त हर्ष के क्षणों में स्वेच्छा-त्याग के चिन्तन के अभ्यस्त हो गए हैं, फिर भी जहाँ अगणित कविताएँ पढ़ीं, अगणित चित्र देखे, अगणित चित्र देखे, अगणित गाने सुने, जहाँ पार्थिव और आत्मिक पुकार एक ही प्रतीत होती हैं, उसे अत्यन्त कठोरता और अशिष्टता-पूर्वक हम कैसे छोड़ सकते हैं? हम सन्त बर्नार्ड (St. Bernard) के उस आँख मूँदने में, ताकि वे स्विटज़रलैण्ड की झीलों के सौन्दर्य से पराभूत न हो सकें, अथवा उस आत्म-ज्ञान की उच्च आलंकारिक भाषा से पूर्ण पुस्तक में, कौन-सी सार्वभौम बात पाते हैं? हम पा सकते हैं यदि हम इस पुस्तक की भाँति उदारतापूर्ण वाणी को प्राप्त कर सकें—

"अवकाश पा चुका हूँ।
अब दो मुझे बिदाई,
मेरे समस्त भाई,
करता प्रणाम सबको, लेने बिदा रुका हूँ!

तज कुञ्जिका भवन की,
आत्मीयता सदन की,
केवल मधुर वचन-हित मैं सामने झुका हूँ!
जो कुछ यहाँ लुटाया
उससे अधिक कमाया,
रह साथ तुम सभी के अब खेल खा चुका हूँ!
अब प्रात हो रही है,
यह रात खो रही है—
वह दीप जो भवन के तम में जला चुका हूँ!
आई पुकार मेरी,
अब है न और देरी,
प्रस्थान-हेतु यात्रा के पग बढ़ा चुका हूँ!

और यह हमारी भावना है, जो कि जब केम्ब्रिज या जान आव दि क्रास दूरतम स्थान पर रहता है, तब पुकार उठती है—

"मृत्यु को चाहूँगा मैं क्योंकि
कर रहा मैं जीवन को प्यार!"

और फिर भी यह केवल हमारी विश्व-त्याग की भावना को ही पुष्ट करती है ऐसी बात नहीं है। हम नहीं जानते थे कि हमने ईश्वर को प्रेम किया है, हाँ यह किसी प्रकार सम्भव हो सकता है कि हमने ईश्वर पर विश्वास किया हो; फिर भी हम अपने अतीत की ओर दृष्टिपात करते हुए अपने मार्ग को खोजते हुए जङ्गलों में, पहाड़ी

एकान्त स्थानों पर प्राप्त अपने आनन्द में, उन रहस्यपूर्ण प्रतिज्ञाओं में, जिन्हें हमने अपनी प्रेमपात्री युवती के साथ निःस्वार्थ भाव से किया था,— इस गुप्त अभिवर्धनशील प्रेम का माधुर्य्य प्राप्त कर सकते हैं।

"अपरिचित - से अनजाने देव,
चले आए मन - मन्दिर में!
और निज अमर चिह्न, हे प्राण,
अनगिनत जीवन के क्षण पर,
छोड़कर चले गए चुपचाप
मुझे अनजाने ही तजकर!"

यह किसी प्रकार छोटे-से कमरे या दण्ड की पवित्रता नहीं है; यह रजकण और सूर्य्य-रश्मियों के चित्र अङ्कित करते हुए चित्रकार की अत्यन्त गहनता की ओर उठती हुई भावना है और इस प्रकार की वाणी को सुनने के लिए हमें सन्त फ्रान्सिस (St. Francis) और विलियम ब्लैक (William Black) के पास जाना पड़ेगा, जो हमारे बीहड़ इतिहास में अत्यन्त अपरिचित-से लगते हैं।

(३)

हम विशाल ग्रन्थ लिखते हैं जिनके पृष्ठों में कोई ऐसी विशेषता नहीं होती जो उसके वर्णित विषय को आनन्द-प्रद बना सके, हम कुछ प्रसिद्ध आकार-प्रकार से ही सन्तुष्ट रहते हैं, जैसे कि हम युद्ध में प्रवृत्त

होकर अर्थ सिद्ध करते हैं और अपने मस्तिष्क को राजनीति से भर लेते हैं—जहाँ कार्य्यों में केवल कूड़ा-करकट भरा रहता है, जब कि श्री टैगोर, मूर्तिमान् भारतीय सभ्यता की भाँति, आत्मा के अन्वेषण और उसकी नैसर्गिकता पर आत्मसमर्पण करने में सन्तुष्ट रहे। इनका जीवन उन लोगों के जीवन से प्रायः विपरीत जान पड़ता है जो केवल हमारे फैशन के ही लिए जीवित रहे और पृथ्वी के भार-स्वरूप ही प्रतीत हुए। और ये इस प्रकार निश्चिन्त मानो ये जानते थे कि इनका ही मार्ग इनके लिए सर्वोत्तम है :—

"घर आते जन मुझ पर हँसकर
करते लज्जित, प्राणाधार!
दीन भिखारिन - सी बैठी हूँ
मुँह पर अपने घूँघट डाल,
वे जब मुझे पूछते, आँखें
नीची कर लेती तत्काल!"

और दूसरी ओर, कि किस प्रकार उनका जीवन एक दूसरे ही रूप में था, वे कहेंगे—

"लिए मैं बुरे - भले का प्रश्न
रहा उलझा घण्टों उनमें,
किन्तु बेकार दिनों के मित्र
चाहते आना अब मन में!

आज सहसा उनका आह्वान
समझ में मेरी आता नहीं,
व्यर्थ किस कार्य्य - हेतु वे मुझे
खींचकर ले जाते फिर वहीं"

एक प्रकार की निर्दोषता, एक प्रकार की सरलता जो कि किसी साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकती, चिड़ियों और पत्तियों को इनके इतने समीप दिखा देती है, जितने कि बच्चों के, और हमारे विचारों के सम्मुख महती घटनाओं की भाँति, ऋतु-परिवर्तन हमारे और अपने बीच में आ उपस्थित होते हैं। कभी-कभी मैं आश्चर्य में पड़ जाता हूँ कि इसे इन्होंने बँगला के साहित्य से लिया है या धर्म से, और कभी-कभी उनके भाई के हाथों पर चिड़ियों का उतर आना सोचता हूँ। मैं यह सोचकर प्रसन्न होता हूँ कि यह इनके लिये परम्परागत एक रहस्य है, जो शतकों से ट्रिस्टन या पैलेनोर की उदारता (Courtesy) की भाँति बढ़ रहा था। सचमुच, जब वे बच्चों के विषय में कहने लगते हैं तब यह गुण उनका इतना अपना अंश प्रतीत होता है, कि कोई यह नहीं कह सकता कि वे सन्तों के विषय में नहीं कह रहे हैं—

"रचते स्वकीय गेह के अजस्र रेत से,
वे रिक्त सीप से प्रमुग्ध खेल खेलते,
वे नाव बनाते सभी विदीर्ण पात से!
हँसते हुए अगाध धार बीच बहाते!

बहु लोक-सिन्धु-तीर बाल खेल में खिलें !
वे जानते अजान अहे, तैरना नहीं,
निक्षेप जाल का भी सीखा नहीं कहीं,
धीवर अमूल्य रत्न-हेतु डूबते जहाँ,
निज पोत ले वणिक् समुद्र नापते जहाँ,

कंकड़ जुटा वहीं समस्त बाल-मण्डली
फिर छींट कर उन्हें स्वकीय पन्थ पर चली
वे खोजते छिपे निधान को कभी नहीं
निक्षेप जाल का रे सीखा नहीं कहीं"

सितम्बर, १९१२ } डब्ल्यू० बी० यीट्स